तेजेन्द्र शर्मा की दस कहानियाँ

प्राक्कथन

अभिव्यक्ति की आठवीं सालगिरह पर तेजेन्द्र शर्मा की दस कहानियों का जाल-संस्करण तथा मुफ़्त पीडीएफ डाउनलोड प्रकाशित करना गर्व और हर्ष दोनों का विषय है। हर्ष इसलिए कि इस वर्ष तेजेन्द्र जी के साहित्य सृजन के तीस साल भी पूरे हो रहे हैं। प्रवासी लेखकों में ऐसा लंबा सृजन-काल बहुत कम लेखकों का है। जाने माने साहित्यकारों में वे पहले थे जो अभिव्यक्ति के साथ जुडे और दूसरों को इस ओर प्रेरित किया। उनके द्वारा प्रारंभ किए गए इस कार्य में आज 100 से अधिक रचनाकारों के नाम जुड़ चुके हैं यह अभिव्यक्ति के लिए गर्व का विषय है। उन्होंने न केवल अपनी पूर्वप्रकाशित कहानियाँ हमारे साथ बाँटी बल्कि हमारे अनुरोध पर दिए गए विषय पर भी उतनी ही लगन से नई कहानियों की रचना की। यह काम के प्रति उनकी तन्मयता और कहानी के प्रति उनकी निष्ठा का प्रतीक है।

हमने इस साल से डाउनलोड करने योग्य कुछ सुंदर पीडीएफ़ फाइलें नियमित रूप प्रकाशित करने का निश्चय किया है, ताकि इन्हें इंटरनेट कनेक्शन बंद कर के भी पढ़ा जा सके और आपस में एक दूसरे को बाँटा जा सके। इस क्रम में यह पहली फ़ाइल है। भविष्य में इसी तरह गौरव गाथा, हास्य व्यंग्य तथा अन्य विषयों को प्रकाशित करने की योजना है। कुछ और लेखक भी जल्दी ही अपनी दस कहानियाँ पूरी करने वाले हैं, उनके भी वेब तथा पीडीएफ़ संस्करण जल्दी पाठकों के पास पहुँचें ऐसी कामना है। आशा है पाठकों को ये सुविधाजनक, रोचक और संग्रहणीय प्रतीत होंगे।

सुझावों और प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा में,

पूर्णिमा वर्मन

(संपादक अभिव्यक्ति अनुभूति)

teamabhi@abhivyakti-hindi.org
abhi_vyakti@hotmail.com

तेजेन्द्र शर्मा–एक परिचय

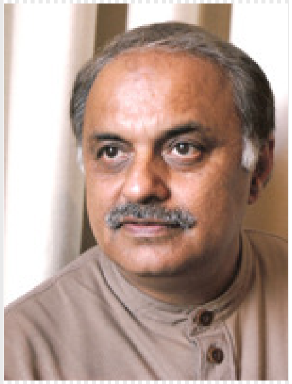

जन्म: 21 अक्तूबर 1952 (जगसंव - पंजाब) भारत।
शिक्षा : एम. ए. अंग्रेज़ी (दिल्ली विश्वविद्यालय)

कार्यक्षेत्र: समकालीन कथा साहित्य में तेजेंद्र शर्मा एक चर्चित नाम है। उनकी कहानियाँ उनके सजग साहित्यकार होने का प्रमाण है। वे परिवेश में से पात्र चुन लेते हैं जो पन्नों पर उनकी लड़ाई लड़ते हैं। विषय वैविध्य और विषयों की सामायिकता तेजेंद्र शर्मा की कहानियों की अन्य विशेषताएँ है। कथा साहित्य में शिल्प एवं शैली के स्तर पर जो परिवर्तन हुए हैं, उनकी झलक तेजेंद्र शर्मा की कहानियों में देखने को मिलती है। उन्होंने दूरदर्शन के लिए 'शांति' धारावाहिक का लेखन किया है, अन्नु कपूर निर्देशित फ़िल्म 'अमय' में नाना पाटेकर के साथ अभिनय किया है तथा वे हिंदी साहित्य के एकमात्र अंतर्राष्ट्रीय सम्मान 'अंतर्राष्ट्रीय इंदु शर्मा कथा सम्मान' प्रदान करनेवाली संस्था 'कथा यू. के.' के सचिव हैं।

प्रकाशित कृतियाँ : तेजेंद्र शर्मा के काला सागर (1990) ढिबरी टाईट(1994), देह की कीमत(1999) यह क्या हो गया(2003) और बेघर आंखें (2007) नाम से पाँच कहानी संग्रह तथा ये घर तुम्हारा है... (2007) नाम से एक कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। ढिबरी टाइट नाम से पंजाबी, ईंटों का जंगल नाम से उर्दू तथा पासपोर्ट का रंगहरू नाम से नेपाली में उनकी अनूदित कहानियों के संग्रह प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने तीन अँग्रेज़ी पुस्तकें भी लिखी हैं। वे इंग्लैंड से प्रकाशित होने वाली पत्रिका पुरवाई का भी दो वर्ष तक संपादन कर चुके हैं।

पुरस्कार / सम्मान:
1.ढिबरी टाइट के लिये महाराष्ट्र राज्य साहित्य अकादमी पुरस्कार - 1995 (प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी के हाथों।)
2.सहयोग फ़ाउंडेशन का युवा साहित्यकार पुरस्कार - 1998
3.सुपथगा सम्मान -1987
4.कृति यू.के. द्वारा वर्ष 2002 के लिये "बेघर आँखें" को सर्वश्रेष्ठ कहानी का पुरस्कार
5.प्रथम संकल्प साहित्य सम्मान – दिल्ली (2007)
6.तितली बाल पत्रिका का साहित्य सम्मान – बरेली (2007)
7.भारतीय उच्चायोग लंदन द्वारा डॉ.हरिवंशराय बच्चन सम्मान (2008)

संप्रति : लंदन के ओवरग्राउण्ड रेलवे में कार्यरत।
संपर्क : kahanikar@hotmail.com

अनुक्रम

- ❖ अपराधबोध का प्रेत 5
- ❖ एक बार फिर होली 11
- ❖ काला सागर 20
- ❖ गंदगी का बक्सा 27
- ❖ ढिबरी टाइट 33
- ❖ चरमराहट 40
- ❖ जीना यहाँ किसके लिए 47
- ❖ देह की कीमत 56
- ❖ पासपोर्ट के रंग 65
- ❖ मलबे की मालकिन 72

अपराधबोध का प्रेत

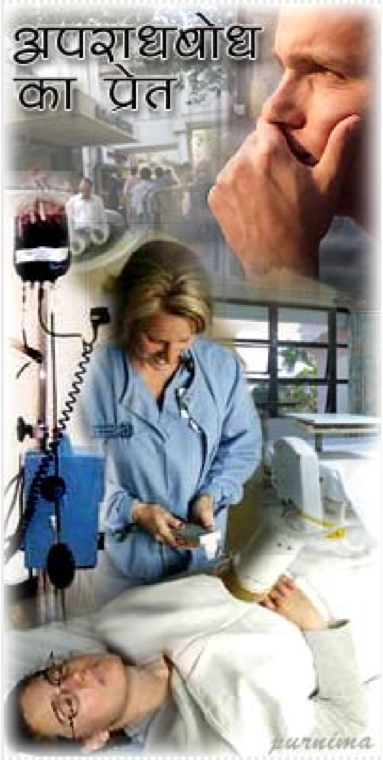

उसने यह बात सोची ही कैसे? क्या ऐसे कुत्सित विचार का दिमाग में आना ही उसे अपराधी नहीं बना देता? रक्त बोतल में से बूँद-बूँद टपककर अब भी नली में से होता हुआ सुरभि की शिराओं में जज़्ब हुए जा रहा था। उसके चेहरे पर लगा हुआ ऑक्सीजन नकाब निरंतर ऑक्सीजन उसके शरीर में पहुँचा रहा था. . .यही ऑक्सीजन सुरभि की साँसों को किसी भी तरह थामे हुई थी, परंतु नरेन! नरेन को लग रहा था जैसे कोई अज्ञात शक्ति उसका गला दबाए जा रही है. . .उसकी आवाज़ उसके तालू के साथ चिपककर रह गई है। उसकी जीभ आवाज़ क़ो बाहर निकलने ही नहीं देना चाहती। आख़िर ऐसा गिरा हुआ वीभत्स विचार उसके मन में आया कैसे! उसके पास तो जीवित रहने का कोई भी कारण नहीं बचा है।

"नरेन, आज तुम्हारे लिए मूली के परांठे बनाकर लाई हूँ।" सुरभि ने अपनी आवाज़ की ख़ुशबू बिखेरी।

"तुम टिफ़िन में थोडा ज़्यादा खाना लाया करो ना। मैं तो तुम्हारा सारा टिफ़िन खा जाता हूँ। और तुम्हें बाज़ारी छोले-भटूरे खाने पडते हैं।"

"जानते हो, तुम खाते हो तो मुझे कितना सुख मिलता है। अगर ज़्यादा लाऊँगी तो माँ पूछेगी नहीं कि किसके लिए ले जाती हूँ। मुझसे झूठ नहीं बोला जाता।"

"इतना प्यार करती हो मुझे?"

"मैंने कहा ना, मुझसे झूठ नहीं बोला जाता।" सुरभि की खिलखिलाहट भरी हँसी पूरी फ़िजाँ में फैल गई थी।

सुरभि ने आँखें खोलीं। नरेन को अभी भी पहचान पा रही थी। उसे पेशाब करने की ज़रूरत महसूस हुई थी। अपराधबोध से ग्रस्त नरेन ने जल्दी से कमोड लगाया, पेशाब करवाया और रूई से सफ़ाई कर दी।

सुरभि की बीमार आँखों में से आँसू की एक बूँद निकली और उसके तकिये में समा गई। वैसे तो उसके शरीर में कैंसर ने पाँच साल पहले ही जडें जमा ली थीं, पर पिछले दो वर्ष ने उसका संबंध बिस्तर से और भी प्रगाढ क़र दिया था। करवट बदलते हुए भी हड्डियों के भुरभुराकर टूटने का डर रहता था। सीधे लेटे रहने से पीठ में वैसे भी दर्द होता रहता था। बोन मैटास्टेसिस! सुनने में कितना रोमैंटिक-सा नाम लगता है. . .कितनी भयानक बीमारी!

"तुम्हें माँ ने बुलाया है।"

"तुम तो कह रही थीं कि ममी हस्पताल में हैं।"

"हाँ, पेट में बहुत बड़ा टयूमर हो गया था। काफ़ी बड़ा आपरेशन हुआ है। मैंने एक दिन हस्पताल में ही तुम्हारे बारे में बात कर दी। पहले तो बहुत नाराज़ हुई, फिर बोलीं कि उसे ले आना, मैं भी देखूँ कि वो चीज़ क्या है, जो मेरी बेटी को इतना पसंद आ गया है।"

"एक बात तो है सुरभि, अगर माँ जी ने मुझे पसंद कर लिया, तो तुम्हें छोले-भटूरे खाने से मुक्ति मिल जाएगी।"

"भला, वोह कैसे?"
"लल्लू लाल! फ़िर तो उन्हें बता सकोगी कि टिफ़िन में एक्स्ट्रा खाना किसके लिए ले जाना है।" हँसी के साथ सुरभि के सुंदर दाँतों की कतार जैसे किसी टूथपेस्ट का विज्ञापन लगने लगती थी।

इतनी लंबी बीमारी भी सुरभि के दाँतों को बीमार नहीं कर पाई। अभी दो महीने पहले तक तो सुरभि घर में बैठकर फ़ोन पर बात भी कर लेती थी। फ़ोन पर उसकी आवाज़ सुनकर कोई मानने को तैयार ही नहीं होता था, कि सुरभि सचमुच बीमार है। पिछले तीन सप्ताह से तो बस. . .हस्पताल का बिस्तर, रक्त की बोतल और ऑक्सीजन का सिलंडर!
"बेटा जी, काम कहाँ करते हो?"
"बस जी, यह जो पंखा ऊपर चल रहा है ना, उसी कंपनी में सेल्ज़ आफ़ीसर हूँ।"
"तनख्वाह कितनी मिल जाती होगी?"
"साढे आठ सौ रुपये। माँ जी ऊपर की कोई आमदनी नहीं है। हाथ में बस आठ सौ पचास रुपये ही आते हैं। वैसे सरू का कहना है कि इतने पैसों में घर चला लेगी।"
माँ जी के माथे पर बल दिखाई दिए, "सिगरेट, शराब की कोई आदत है क्या?"
"माँ जी, आज तक तो दोनों चीज़ें नहीं पीं, भविष्य की तो रामजी ही जानें।"
"सुरभि बता रही थी कि माँ-बाप के अकेले बेटे हो!"
"जी हाँ, एक बहन है, बड़ी। शादी हो चुकी है उनकी। दो बेटे भी हैं।"
माँ जी के चेहरे से नरेन कुछ भी समझ नहीं पा रहा था कि वह साक्षात्कार में सफल रहा या उसे रिजेक्ट कर दिया गया। पर कुछ दिनों बाद सुरभि के टिफ़िन में उसका खाना भी आने लगा था।

सुरभि ने फुसफुसाहट भरी आवाज़ में कुछ कहा। नरेन का अपराधबोध और गहरा हो गया। जिस गले से दाग़ और ग़ालिब की ग़ज़लें माधुर्य पाती थीं, उसी गले से आज फुसफुसाहट भी मुश्किल से निकल पा रही थी। फ़िल्मी गीतों को लेकर भी नरेन और सुरभि में नोकझोंक चलती रहती थी। नरेन की पसंदीदा जोडी थी शैलेंद्र और शंकर जयकिशन जबकि सुरभि को शकील की शायरी अच्छी लगती थी, "शृंगार रस का उपयोग जिस तरह शकील करते हैं, किसी और फ़िल्मी शायर के बस की बात नहीं उस पर नौशाद का संगीत मेड फ़ॉर ईच अदर जोडी।"
"जयपुर भी कोई हनीमून पर जाने की जगह है?"
"वहाँ से माऊंट आबू भी तो जाएँगे।"
"पर जयपुर क्यों?"
"सरू, ना जाने क्यों, आमेर के किले में जाकर ऐसा लगता है, जैसे मैं वहाँ पहले भी आ चुका हूँ, तुम भी मेरे साथ वहाँ चलकर वह किला देखना। लोग तो इंग्लैंड और अमरीका से आते हैं वह महल देखने।"
"उनका हनीमून नहीं होता। हनीमून के लिए तो हर कोई हिल स्टेशन पर ही जाता है।"
"तो पहले माऊंट आबू चले चलते हैं। वापसी में जयपुर चले जाएँगे।"
"नहीं, पहले जयपुर ही चलेंगे।"

नरेन की हर बात रख लेती है सुरभि। कभी भी ऐसा नहीं हुआ कि सुरभि ने अपनी कोई बात नरेन पर लादी हो। जयपुर में ही एक ब्रिटिश जोड़ा भी अपने हनीमून पर आया हुआ था। उसी होटल में ठहरा था जहाँ नरेन और सुरभि रुके थे। देखते ही अंग्रेज़ युवती के मुँह से निकला था, "मेड फ़ॉर ईच अदर कपल!"
नर्स आई है। साँवले रंग की, मध्यम काठी, नीली पोशाक। आमतौर पर नर्सें सफ़ेद पोशाक पहनती हैं। संभवतः हस्पताल वाले सफ़ेद रंग को शोक का प्रतीक मानते हैं। या फिर कोई और भी कारण हो सकता है। पर इस हस्पताल में नर्सें नीले रंग के कपड़े पहनती हैं। नरेन उसे देखे जा रहा था. . .उसका मन हुआ कि आगे बढ़कर नर्स के होठों पर एक चुंबन अंकित कर दे। दूसरा कुत्सित विचार. . .अभी तो पहले विचार के अपराधबोध से ही बाहर नहीं निकल पाया था। आज उसका मन बेलगाम क्यों हुए जा रहा है।

नरेन के विचारों से अनभिज्ञ, नर्स ने सुरभि की नब्ज़ देखी, फ़ाइल में लिखा। खून का टपकना चेक किया। सुरभि की आँख खुली। "हैलो, कैसा है अबी? रात को नींद ठीक से आया?" सुरभि के बीमार चेहरे पर भी मुस्कान की एक लकीर दिखाई दी। उसकी आँखें कह रही थीं अब तो बस अंतिम निद्रा की प्रतीक्षा है, सुरभि को ऑक्सीजन और खून की बोतल ने अहसास करवा दिया था कि मामला चला-चली का ही है, कल रात ही नरेन के कानों में फुसफुसाई थी, "कार के ट्रांस्फर पेपरों पर मेरे साईन करवा लो।" घर की चीज़ों का हमेशा से ही बहुत ख़याल रखती है।
"यह दराज क्यों खुला छोड दिया। अलमारी भी हमेशा खुली छोड देते हो। कभी भी अपनी रखी हुई चीज़ें तुम्हें बिना ढूँढ मचाए मिलती हैं! मैं नहीं रहूँगी ना तब मेरी याद आएगी तुम्हें। बैठक में यह शोपीस सजाने का क्या मतलब है!"

सुरभि को घर एकदम तरतीब से सजा हुआ अच्छा लगता है। बहुत बार नरेन को कह चुकी है कि फ़िजूल के रद्दी कागज़ों को फैंक बाहर करे। पर नरेन के लिए ज़िंदगी को सिलसिलेवार तरतीब से सजाना संभव ही नहीं है। उसे तो यह भी समझ नहीं आता कि उसका कौन-सा कागज़ रद्दी है और कौन-सा काम का। वैसे पत्रिकाओं के संपादकों की राय में तो नरेन का सारा लेखन ही रद्दी है. . .इसीलिए तो उसकी सभी रचनाएँ या तो लौट आती हैं या फिर रद्दी की टोकरी में चली जाती हैं। कितने वर्षों से लिख रहा है नरेन। कहीं किसी भी पत्रिका में एक भी तो रचना नहीं छपी। यह अलग बात है कि वह अपने आप को कवि भी समझता है और कहानीकार भी।
"ज़रा थोड़ी देर के वास्ते बाहर जाने का। हम पेशेंट को सपंज देइंगा।" नर्स की आवाज़ नरेन को चौंका गई। सुरभि को उठकर बाथरूम में गए तो एक महीने से ऊपर हो चुका है। सपंज से ही काम चल रहा है। सुरभि को डेटॉल की महक अच्छी नहीं लगती, नर्स को यह मालूम है। सपंज के लिए पानी में यूडेकोलोन डाल रही है। सुरभि नरेन को कुछ कहना चाहती है। नरेन अपना कान सुरभि के होठों के पास ले जाता है। चुंबन का हल्का-सा स्वर उसके कानों में पहुँच जाता है। सुरभि की आँखें फिर गीली हैं, नरेन का अपराधबोध और गहरा गया है।
"मेरी छाती तो कटवा आए, मुझे प्यार कर पाओगे अब?" पाँच वर्ष पहले भी सुरभि अपने कैंसर और कटे हुए स्तन को लेकर इतनी बेबाकी से बात कर लेती थी।" नरेन ने उसे कई बार समझाने की कोशिश भी की कि उसका काम एक छाती से भी चल जाएगा। उसे लगता था शायद सुरभि से अधिक वह अपने आप को समझा रहा है। कई बार सोचा कि सुरभि की बीमारी पर एक कहानी ही लिख डाले, समझ नहीं पाया शुरू कहाँ से करे। अपने लेखन को लेकर तो उसे कई बातें समझ नहीं आती थीं। उसकी कोई भी रचना छप क्यों नहीं पाती यह सवाल हमेशा उसके सामने मुँह बाए खड़ा रहता है।
समझ तो यह भी नहीं पाता था कि सुरभि के अंतिम समय में वह अकेला ही उसके पास क्यों बैठा है। सुरभि का तो व्यक्तित्व इतना आकर्षक है कि हस्पताल में उसे देखने के लिए मित्रों का तांता लगा रहता है। पर मित्र तो हमेशा बाहर वाले ही कहलाते हैं ना! फिर अंदर वाले, सुरभि के माता-पिता, भाई, बहनें, ससुरालवाले सब कहाँ हैं?
"मैंने अपनी माँ से बात की थी।"
"इसमें कौन-सा बड़ा तीर मार लिया आपने। हर बेटी अपनी माँ से बात करती है।"
"मेरी बात को यों मज़ाक में ना उड़ाओ। वैसे तो मुझे अपनी माँ से यही उम्मीद होनी चाहिए थी। फ़िर भी इतना कोरापन! वह ऐसा कह देंगी इसकी भी आशा नहीं थी।" सुरभि की आँखें बात

करते-करते गीली हो गई थीं।

"ऐ. . .! ऐसी भी क्या बात हो गई जो हमारी सरू को इस कदर गीला कर गई?"

"मैंने पूछा था कि पता नहीं मैं कितने दिन और ज़िंदा रहूँगी। मेरे मरने के बाद मेरे बड़े भैया अगर मेरे बच्चों को रख लें। मैंने तो यह भी कहा था कि तुम सारा खर्चा दोगे, पर. . ."

"क्यों, क्या-क्या कहा उन्होंने?"

"उन्होंने मेरी उम्मीद की किश्ती को तैरने से पहले ही डुबा दिया। कहती हैं, देख भई गुडडी, तेरे बच्चे अलग तरह से पले हैं। उनको हम अपने पास नहीं रख सकते। अपनी मरती हुई बेटी का झूठा दिल रखने को भी उन्होंने यह नहीं कहा कि मेरी मौत के बाद मेरे बच्चों को सँभाल लेंगी।"

"हम कितने किस्मत वाले हैं सुरभि, कि हमारे रिश्तेदार हमसे झूठ नहीं बोलते।"

पर सुरभि की बीमारी भी तो झूठ नहीं. . .उससे अधिक कठोर सत्य तो दूसरा कोई हो ही नहीं सकता। डॉ. कुरकुरे ने तो घोषणा कर ही दी थी।" मि. नरेन, मेरा ख़याल है आप टाटा हस्पताल जाकर मौरफ़ीन ले आएँ। युअर वाईफ़ नीडज दैट!"

"डाक्टर साहिब इसका क्या मतलब है? कितने दिन की मोहलत देते हैं आप?"

"बस एक महीना भर समझ लीजिए, आप।"

नरेन ने अचानक अपनी सैकंड-हैंड मारुति के ब्रेक पूरे ज़ोर से दबा दिए थे। अगर पीछे आने वाला रिक्शा चालक चौकन्ना न होता तो दुर्घटना घट ही जाती। "सॉरी डॉक्टर!" नरेन का बदन काँप रहा था।

"आई कैन अंडरस्टैंड, रिलेक्स!"

कैसा आराम! सुरभि के शरीर की सारी हडिडयों को कर्क रोग खोखला कर गया था। सरू के बूटे की तरह लंबी सुरभि अब अपने पैरों पर खड़ी भी नहीं हो सकती थी। नरेन सुरभि की आँखों में मौत का लंबा साया हर रोज़ देखा करता था। उसकी आँखें आज भी इसी प्रतीक्षा में हैं कि शायद उसकी माँ उसके अंतिम क्षणों में किसी भी तरह उसके पास आ जाए। इंसान की हर इच्छा कहाँ पूरी हो सकती है। सुरभि की आत्मा को कहीं भटकना ना पड़े, अपनी माँ को खोजती ना रहे।

नरेन में भी वह अपने पिता को खोजा करती है। नरेन की बहुत-सी आदतें सुरभि के पिता से मिलती-जुलती हैं। नरेन का विनोदी स्वभाव, गुस्सा, प्यार, तुनकमिजाज़ी, मिठाई का शौक, बच्चों की पढाई में रुचि, और सबसे अधिक ज़िंदादिली. . .यह सब उसे अपने पिता की याद दिला जाते हैं। अब ना जाने कौन-सी बातें नरेन के दिमाग़ की डायरी में सुरभि की यादें ताज़ा करती रहेंगी।

"सरू, तुम डायरी भी लिखती हो?"

"नहीं, बस यों ही।"

"अरे! मुझे तो इतने वर्षों में पता ही नहीं चला।"

"तुम्हें अपनी कविताएँ और कहानियाँ लिखने से फुरसत ही कहाँ मिलती है, जो तुम किसी दूसरे की लिखी चीज़ें पढ़ो।"

"मेरा लेखन तो बस एक मृग-मरीचिका ही है, सुरभी। मेरी कामना जितनी अधिक प्रबल होती है कि मेरा लेखन प्रकाशित हो, छपाई मुझसे उतनी ही दूर होती चली जाती है। यह बात मुझे अंदर ही अंदर आहत करती रहती है, सर्पदंश से अधिक विषदायक है यह सच्चाई कि मेरा लेखन छपने के लायक नहीं है।"

"ऐसा क्यों सोचते हो जी? और फिर छपास की भूख भी कोई भूख हुई, नहीं मुझे देखिए, जब हायर सेकंडरी में थी, तब से लिख रही हूँ। कम से कम तीन किताबों के लायक कहानियाँ तो लिख ही चुकी हूँ। आप को आज तक पता भी चला? मेरे मन में छपने की भूख है ही नहीं। बस लिखती हूँ, आत्मसंतोष मिल जाता है। कहानी फ़ाइल में रख देती हूँ। मैं तो उन्हें दोबारा साफ़ सुथरा करके लिखने की भी नहीं सोचती। यदि किसी काम से मन को सुकून मिल जाए, तो इससे बडी उपलब्धि क्या होगी?"
"मैं तुम्हारी तरह महान नहीं हूँ, सुरभि। मैं देखता हूँ, इतनी ख़राब-ख़राब कविताएँ अख़बारों में, पत्रिकाओं में छप जाती हैं। फिर मेरी ही रचनाओं की ऐसी परिणति क्यों।"

महान सुरभि की परिणति भी कितनी दर्दनाक है! उसे भूख लगी है। कुछ भी खा नहीं पा रही, उल्टी हो जाती है। अरुण दूध की बोतल ले आया है, बच्चों को दूध पिलाने वाली बोतल, उसमें थोड़ा दूध डालकर पिलाने की कोशिश में है नरेन। अपराधबोध का प्रेत फिर से तंग करने लगा है। इस दूध पीती बच्ची के बारे में उसने ऐसा सोचा ही कैसे?
अरुण को कितना स्नेह देती है सुरभि। "इस महानगर में आपके बाद यदि मुझे किसी पर विश्वास है तो अरुण पर! वैसे आपको अरुण से कुछ सीखना चाहिए। दुनियादारी के मामले में अरुण जितना सफ़ल हो पाना कठिन ही है।"
अरुण भी रोज़ हस्पताल आता है। दो रातें तो हस्पताल में सोया। नरेन को आराम देना भी तो आवश्यक है। मन ही मन द्वंद्व जारी है, नरेन सोच रहा है, अरुण को बता देने से क्या अपराधबोध कम हो जाएगा?

सुरभि बच्चों को मिलना चाहती है। अंतरा की दसवीं की परीक्षा चल रही है। अपूर्व तो छोटा है - अभी पाँचवीं में ही है। सुरभि की बेचैन निगाहें दीवार पर जैसे कुछ ढूँढ रही हैं। नरेन के माथे पर पसीना छलकने लगा है। कहीं सुरभि के जाने से पहले उसका ही दम ना निकल जाए। नर्स को बुलाता है नरेन, सुरभि का दर्द बढ़ता जा रहा है। नरेन का प्रेत और बड़ा होता जा रहा है। अरुण को फ़ोन करना है। बच्चों को हस्पताल ले आए। माँ से मिल लेंगे। अरुण के स्वर में झल्लाहट है, "भाभी को अकेला क्यों छोडा? जल्दी वापस उनके पास जा, सारी उमर साहित्यिक गोष्ठियों के चक्कर में रहा और भाभी को कभी वक्त नहीं दिया और अब उनके आखरी वक्त में भी उनके पास नहीं बैठ रहा।"
"तुम्हारे पास घर के लिए बिल्कुल भी वक्त नहीं है। कैसा है यह इंसान! मर जाऊँगी ना तब ढूँढते फिरना। हाथ मलते रह जाओगे" रोने लगती है। हिचकियाँ बँध जाती हैं। "मेरे पास बैठा करो ना, तुम्हारे बिना बिस्तर काटने को दौड़ा है। मर जाऊँगी तो कर लेना साहित्य की सेवा।"
पहली बार सुरभि ने नरेन को तुम कहकर पुकारा था। वह तो आप और जी के बिना बात ही नहीं करती थी। टेमोक्सीफ़िन और जाने क्या-क्या दवाइयाँ खा रही है। रेडियेशन, कीमोथिरेपी, मौत का डर। नरेन को पकडक़र अपने पास बिठाए रखना चाहती है सुरभि। प्यार की पराकाष्ठा है सुरभि। नरेन समझ नहीं पाता, सुरभि बनकर सोच नहीं पाता। आसान काम है क्या. . .सुरभि बनकर सोचना आसान काम है क्या!
इतना लेखन करके एक रचना भी ना छपवाना, क्या आसान काम है? ऐसे मुश्किल काम सुरभि ही कर समती है। सुरभि अच्छी पत्नी भी है, अच्छी माँ भी है, अच्छी मित्र भी है, अच्छी लेखक भी है।

हाँ नरेन उसकी सारी फ़ाइलें चुपके से पढ़ गया था, उसे बिना बताए। कई रचनाएँ पढ़कर उसकी आँखों में भी आँसू आ गए थे। इतना दर्द, कहाँ से कोई इतना दर्द ला सकता है अपने लेखन में। और ऐसा लेखन छपवाना नहीं चाहती, पागल है. . .पागल ही तो है, वरना नरेन जैसे साधारण इंसान से विवाह क्यों करती। उसकी बेहूदगियाँ बरदाश्त करते सुरभि को वर्षों बीत गए हैं।
डॉ दलजीत सिंह तो सदा नरेन को ही दोषी ठहराते हैं। साफ़-साफ़ अपनी कडवाहट नरेन पर उँडेल देते हैं। सुरभि को रिसर्च करवा रहे थे, गाइड़ थे उसके। सुरभि को अपने कालेज में लेक्चररशिप भी दे रहे थे। पर अंतरा बस अढ़ाई वर्ष की थी उस समय। नरेन की सास या सुरभि की सास दोनों में से कोई भी अंतरा की देखभाल को तैयार नहीं हुआ। नरेन और सुरभि दोनों ही अंतरा को 'क्रेश

में रखने को राजी नहीं थे। अंततः सुरभि नौकरी नहीं कर पाई। डॉ दलजीत सिंह के अनुसार यही एक घटना सुरभि के कैंसर का कारण भी बनी। वह तो नरेन को सुरभि का कातिल कहने में भी नहीं चूकते।

अंतरा और अपूर्व को लेकर अरुण आ गया है। डबडबाई आँखें सफ़र की तैयारी बच्चों को प्यार। अंतरा का रोना. . .अपूर्व चुप, माँ को देखता जा रहा है। नरेन, सुरभि, रक्त की बोतल, ऑक्सीजन का सिलंडर, नकाब. . .कहीं सब सुरभि के आभूषण लग रहे, सुरभि इस समय भी कितनी सुंदर लग रही है। कीमोथिरेपी, टेमोक्सीफ़िन, सब फ़ेल। आँखें माँ को ढूँढ रही हैं, भाई की प्रतीक्षा में हैं।

"मेरी एक बात मानोगे?"

"तुम्हारी बात कब नहीं मानता!"

"मेरे मरने के बाद दूसरी शादी मत करना। मेरे बच्चों का जीवन नरक बन जाएगा। तुम मजबूर हो जाओगे, दूसरी माँ बस दूसरी हो जाती है. . .माँ नहीं रह पाती।"

"कल तो तुम कह रही थीं कि तुम्हारे मरने के बाद दूसरी शादी ज़रूर कर लूँ, ताकि तुम्हारा महत्व जान सकूँ।"

"यही तो मेरी समस्या है, जीवन में पहली बार किसी मुद्दे पर एक राय नहीं हो पा रही।"

"तुम ठीक हो जाओगी। तुम्हें कुछ नहीं होगा। तुम फिर पहले की तरह चलने लगोगी।"

चलना तो दूर, अब तो बैठ भी नहीं पाती, बिस्तर. . .बिस्तर. . .बस बिस्तर। पिछले दो वर्ष से बाहर की दुनिया से अब उसका संपर्क बस टेलिविजन और टेलीफ़ोन के माध्यम से है।

"तुम सारा-सारा दिन फ़ोन से ही चिपके रहते हो। कभी हमें भी वक्त दिया करो।"

". . ."

"चुप रहने से काम नहीं चलेगा, कभी सोचा है इन बच्चों को भी तुम्हारा वक्त चाहिए। मैं कितनी अकेली हो जाती हूँ, मेरे साथ करने के लिए तुम्हारे पास कोई बात नहीं, बाहर वालों के साथ घंटों बतिया सकते हो।"

अंतरा की परीक्षा है। उसे जल्दी घर लौटना है। अरुण बच्चों को छोडक़र फिर वापस आने को कह रहा है। तीनों के वापस जाते ही कमरे में सुरभि और नरेन अकेल रह जाएँगे। नरेन के अपराधबोध का प्रेत फिर सक्रिय हो आएगा। नरेन बेचैन, सुरभि की आँखें बंद हैं, शायद सो रही हैं। अगर सुरभि को कुछ हो गया तो यह प्रेत उसे कभी नहीं छोड़ेगा। उसे जकड़े रहेगा।

प्रेत का अस्तित्व नरेन को बेचैन किए जा रहा है। उसे इस अपराध के लिए सुरभि से माफ़ी माँगनी ही है। उसे सुरभि को विश्वास दिलाना होगा कि ऐसा कुत्सित विचार उसके मन में फिर कभी नहीं आएगा। "मुझे माफ़ कर दो सुरभि मैं सोच रहा था तुम मर जाओगी तो तुम्हारी सारी कहानियाँ और कविताएँ अपने नाम से छपवाऊँगा। मुझे माफ़ कर दो।"

सुरभि का सिर लुढक़कर स्थिर हो गया है। अब उसे रक्त या ऑक्सीजन की कोई आवश्यकता नहीं थी।

(1 सितंबर 2005 को अभिव्यक्ति में प्रकाशित)

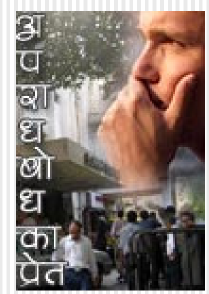

एक बार फिर होली

नजमा की ज़िंदगी का वर्तमान रंग होली के रंगों से गहराई तक जुड़ा है। परसों ही नजमा भारत जाने वाली है। नजमा - एक पाकिस्तानी फ़ौजी की विधवा।

कराची के एक बंगले में गुमसुम सी बैठी नजमा आज तक अपने जीवन की भूल-भुलइयाँ समझ नहीं पाई है। इस शहर में, इस देश में, वह कितनी बार आहत हुई है। कितनी बार उसने उस मौत को गले लगाया है जिसमे इंसान का शरीर तो नहीं मरता लेकिन आत्मा कई-कई मौतें मर जाती है। आज भी वह छलनी हुई आत्मा को अपने इस शरीर में ढो रही है जिसमें अपने ही ऊपर चढ़ाए गए कपड़ों को उठाने की ताकत नहीं।

यह सच है कि उसने इमरान को कभी अपना शौहर नहीं माना। वैसे निकाह के समय काज़ी साहब के पूछने पर उसने भी "हाँ" ही कहा था। लेकिन अगर अम्मा अपनी मौत का वास्ता दे कर कसमें दिलवाए, या फिर अब्बा मियाँ इस्लाम के ख़तरे में पड़ने का डर दिखाएँ तो वह बेचारी हाँ के अतिरिक्त कह भी क्या सकती थी। बुलंदशहर में जन्मी नजमा पाकिस्तानी सेना के कैप्टन इमरान के साथ विवाह कर कराची में आ बसी थी।
इमरान ख़ासा ज़िद्दी इंसान था, "देखो नजमा, अब तुम मेरी बेगम हो। यू हैव नो चॉयस।"

सुनिए, इतनी जल्दी क्या है? मैं आहिस्ता-आहिस्ता अपने आप को तैयार कर लूँगी।

मैं यह बिल्कुल बरदाश्त नहीं कर सकता कि मेरी बीवी के पास हिंदुस्तान का पासपोर्ट हो। अगर किसी को पता चल गया तो लोग क्या कहेंगे। मेरी तो सारी ज़िंदगी पर बदनुमा दाग लग जाएगा।
आप सोचिए, पूरी ज़िंदगी एक हिंदुस्तानी हो कर बिताई है। अचानक अपने वजूद को कैसे बदल लूँ? आप तो जानते हैं मैं थोड़ी सेंसिटिव नेचर की लड़की हूँ। मुझे तो सुहाग रात मनाने में ही कितना वक्त लग गया था।
देखिए बेगम, अल्लाह से डरिए, कुरान-ए-पाक भी कहती है कि बीवी को शौहर की बात माननी चाहिए। इस मामले में हम आपकी एक नहीं सुनेंगे। आप आज ही पाकिस्तानी पासपोर्ट की अर्ज़ी भर दीजिए। इस बात को लेकर हम आपसे अब और बहस नहीं करना चाहते।

रात भर रोती रही नजमा। तकिया भीगता रहा और इमरान करवट बदल कर गहरी नींद सोता रहा। सुबह होने को रोका जा सकता तो नजमा ज़रूर उसे रोक लेती। लेकिन सुबह हुई और सुबह के साथ ही शुरू हो गया इमरान का पासपोर्ट राग। नजमा की रोती हुई आँखों का इमरान के निर्णय पर कोई असर नहीं हुआ। इमरान की अम्मी और

दोनों बहनें इस तरह चुपचाप काम कर रही थीं जैसे उन्हें इस मसले से कुछ भी लेना देना नहीं है। जुबेदा ने तो आ कर पूछ ही लिया, इमरान भाई, नाश्ता तो करके ही जाएँगे न आप दोनों? वैसे आलू के परांठे बना दिए हैं।

नजमा ने कह दिया कि उसकी तबीयत ठीक नहीं है। वह नहीं खाएगी नाश्ता। इमरान पर इसका भी कोई असर नहीं हुआ। नजमा हैरान थी कि इमरान का ख़ानदान कुरेशियों का तो नहीं ही है फ़िर इतनी बेरहमी क्यों?

इमरान मियाँ ने कायदे से बैठ कर आलू के दो परांठे दही के साथ खाए, उस पर मसाले वाली चाय पी - एकदम फ़ौजी अंदाज़ में, चाय को प्लेट में डाल कर।
नजमा से रहा नहीं गया, सुनिए, आप ख़ुद ही फ़ार्म वगैरह भर दीजिए, हम साइन कर देंगे। हमसे नहीं भरा जाएगा। और नजमा लगभग भागते हुए बाथरूम में जाकर, अंदर से दरवाज़ा बंद करके खुल कर रोने लगी। उसे याद आ रही थी अपनी सहेली चित्रा की बातें, देखो नजमा, यह जो संकटमोचन का मंदिर है न, इसकी बहुत मान्यता है। यहाँ जो भी आ कर मन्नत मानता है, वो ज़रूर पूरी होती है। मंगलवार को संकटमोचन का व्रत रखना होता है। हनुमान जी बहुत भोले हैं, जल्दी ही सबकी इच्छा पूरी कर देते हैं। उसने कितने मंगल को जाकर संकटमोचन के मंदिर से प्रसाद के रूप में मिठाई खाई है। आज तो मंगल नहीं है; भला जुमेरात को हनुमान जी कैसे हमारी बात सुनेंगे? नजमा मन ही मन दुआ माँग रही थी, हे संकटमोचन मुझे इस हालत से बचा लीजिए, आज दफ्तर बंद हो जाए। मुझे पासपोर्ट देने के लिए अफ़सर मना कर दे। मैं जब भी वापस अपने मुल्क आऊँगी, आपके मंदिर में चढ़ावा चढ़ाने ज़रूर आऊँगी। किंतु जुमेरात को मस्जिद की अज़ान के सामने संकटमोचन की दुआ नहीं सुनी गई।
और थोड़ी ही देर में आवाज़ भी आ गई, सुनती हैं बेगम, हमने फ़ार्म पूरा भर दिया है, इस पर साइन कर दीजिए। और नजमा ने अपने डेथ वारंट पर ख़ुद ही अपने हस्ताक्षर कर दिए।

वक्त ने नजमा के ज़ख़्मों के दर्द को कम कर दिया। लेकिन उन ज़ख्मों के निशान नजमा की आत्मा पर स्थाई रूप से चिह्नित हो कर रह गए। वह जीवन भर अपने पति के इस कृत्य को माफ़ नहीं कर पाई। और इमरान को भी कुछ फ़र्क नहीं पड़ा, वो भी हमेशा जानबूझ कर नजमा के सामने हिंदुस्तान की बुराई करता। नजमा ने कविता लिखनी शुरू कर दी। उसकी कविताओं में हमेशा दोहरा अर्थ छिपा रहता। वह कभी भी इकहरे अर्थ वाली कविता नहीं लिखती थी। वह अपनी कविताओं में अपने देश, अपनी सहेलियों, अपने परिवार, अपने वजूद को याद करती रहती। एक बार नजमा ने अपनी कविता कुछ यों शुरू की, मन करे माथे लगाऊँ मैं वतन की ख़ाक को/ कर के सजदे सिर झुकाऊँ उस ज़मीने पाक को।

जुबेदा ने झट से कहा था, भाभी जान ये उस ज़मीने पाक नहीं, इस ज़मीने पाक होना चाहिए। इमरान की झुंझलाहट साफ़ सुनाई पड़ रही थी, जुबेदा मैं तो ज़िंदगी भर इंतज़ार करता रहूँ, तब भी तुम्हारी भाभी जान इस ज़मीन को पाक नहीं कहने वाली। ये तो मुहाजिरों से भी गई गुज़री है।
मुहाजिरों से गई गुज़री - यह कहने वाला मेरा अपना शौहर है! नजमा कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं थी। पराया देश, पराये लोग। अपना पति भी पराया-सा क्यों लगने लगता है। गिद्धों का एक समूह, बेचारी-सी नजमा! किंतु जीवन तो जीना ही होता है। नजमा ने भी अपने आसपास के माहौल में रुचि लेनी शुरू की।

अपने पति के साथ नजमा फ़ौजी पार्टियों में भाग लेती तो उसकी ननदें उसे कराची के उच्च-मध्यवर्गीय माहौल से परिचित करवाती रहतीं। पति इमरान को बस एक ही रट रहती - कश्मीर आज़ाद करवा कर ही रहेंगे।

नजमा की समस्या यही थी कि उसका शरीर, आत्मा और दिमाग पूरी तरह से भारतीयता में रंगे थे। उसे पाकिस्तान की मिट्टी पर बारिश की हलकी फुहारें पड़ने के बाद मिट्टी से वैसी भीनी-भीनी सुगंध आती नहीं महसूस होती थी जैसी कि अपने गाँव में। उसे लखनऊ विश्वविद्यालय में बिताया एक-एक पल परेशान करता है। वहीं तो उसकी मुलाकात हुई थी एक नौजवान से - चंद्र प्रकाश। सब उसे चंदर कह कर बुलाते थे। कुछ ही दिनों में नजमा चंदर के व्यक्तित्व में इस कदर रंग गई कि अन्य विद्यार्थियों ने उन्हें चाँद-तारा कह कर बुलाना शुरू कर दिया। दूर-दूर से एक दूसरे को देख कर ख़ुश हो जाने वाले चंदर और नजमा ने धीरे-धीरे भविष्य के सपने बुनने भी शुरू कर दिए थे। चंदर वैसे तो डाक्टर बनना चाहता था लेकिन उसके मन में एक कवि पहले से विद्यमान था। कृष्ण और राधा की होली के नगमें वह इतनी तन्मयता से गाता था कि नजमा भाव विभोर हो जाती। उसे होली के त्यौहार की प्रतीक्षा रहती। अपनी सहेलियों के साथ मिल कर होली खेलती और अपनी माँ से डाँट खाती। उसका होली के रंगों में रंग जाना उसकी आवारगी का प्रतीक था। किंतु माँ को उन रंगों का ज्ञान ही कहाँ था जो नजमा के व्यक्तित्व पर चढ़ रहे थे। नजमा अब चंदर की सुधा बनने को व्यग्र थी।

होली खेलने की आदत, सखियों के साथ मौज-मस्ती, मावे से भरी गुजिया का आनंद, नजमा का बस चलता तो सारा साल होली ही खेलती। बांग्ला देश के जन्म के बाद की होली, नजमा के जीवन की आख़री होली, पहली बार चंदर ने अपने हाथों से नजमा के कंवारे गालों पर गुलाल मला था। गुलाल के बिना ही नजमा के गालों की शर्म ने उसे जो लाली दी थी, गुलाल उसके सामने पीला पड़ रहा था। और उन गालों को लाल होते देख लिया था दुर्गा मासी ने। दुर्गा मासी अपनी भांजी सुपर्णा के साथ चंदर के विवाह के सपने सजाए थी। नजमा के लाल होते गालों ने जैसे दुर्गा मासी पर लाल सुर्ख लोहे की छड़ जैसा काम किया था। शाम होते-होते इस्लाम ख़तरे में पड़ चुका था, नजमा का कॉलेज जाना बंद; अचानक पूरा घर अभागा हो गया था, मैं तो उस वक्त भी कहती थी, कि जब सभी लोग पाकिस्तान जा रहे हैं, तो हम ही क्यों यहाँ रहें। उस वक्त मेरी किसी ने नहीं सुनी। इस अभागन को पूरे शहर में एक भी मुसलमान लड़का नहीं मिला, जो काफ़िरों के घर जाने को तैयार बैठी है। हमारा तो परलोक ही बिगाड़ दिया है।

अम्मा चिल्लाए जा रही थी और अब्बा ग़ुस्से से आग उगल रहे थे। इससे पहले कि नजमा कुछ भी समझ पाती, उसे विमान में बैठा कर कराची भेज दिया गया था - इमरान मियाँ के घर। एम.ए. हिंदी बीच में ही रह गई। शरीर पर इमरान की मोहर लग गई थी, लेकिन दिल और आत्मा पर चंदर का कब्ज़ा था। होली के रंग में रंगे चंदर की सूरत ही चंदर की अंतिम तस्वीर थी जो कि नजमा के दिल में बसी उसके साथ कराची चली आई थी।
जुबेदा तुम्हें मालूम है कि मोहन जोदड़ो और हड़प्पा कहाँ हैं पाकिस्तान में?
वो क्या होता है भाभी जान?
अरे, तुमने यह नाम कभी नहीं सुने? हमारे हिंदुस्तान में तो स्कूल के बच्चे भी जानते हैं उनके बारे में।
नहीं तो। वैसे भाभी जान आप बार-बार हिंदुस्तान के गुण गाने कम कर दीजिए। भाई जान को ये कतई पसंद नहीं है।
हैरान, चुप नजमा अपनी ननद को बताती तो क्या बताती। लेकिन जुबेदा ने उसकी मुश्किलों को बढ़ा ही दिया, भाई जान ये मोहन जोदड़ो और हड़प्पा कहाँ हैं पाकिस्तान में?
तुम्हें क्या करना है वहाँ जा कर?

भाभी जान पूछ रहीं थीं।
क्यों नजमा साहिबा क्या आपके हिंदुस्तान वाले मोहन जोदड़ो और हड़प्पा को भी कश्मीर की तरह हड़प जाना चाहते हैं? उनको कहना कि यहाँ तो तक्षशिला भी है। उनका बस चलता तो उसे भी बाँध कर अपने साथ ले जाते। इन सब शहरों का इस्लाम से कुछ नहीं लेना देना। वहाँ जा कर आप क्या करना चाहती हैं बेगम साहिबा? अगर आपको कहीं चलना ही है तो मक्का मदीना का सफ़र करिए, शायद आपका कुछ कल्याण हो जाए।" चुभती बातें, कटु वचन, हर वक्त याद दिलाया जाना कि वह हिंदुस्तान की यादों से बाहर आए - नजमा अब रात को चाँद से बातें करने लगी थी। उसे पूर्णमासी के चाँद में कृष्ण और राधा होली खेलते दिखाई देते। कृष्ण की पिचकारी से निकला रंग, चाँद को भी रंगे हुए था। चाँद की चाँदनी का रंग उस पर चढ़ने लगता। एक फ़ौजी की पत्नी चाहे किसी भी देश में क्यों न हो, अकेलापन उसका सबसे बड़ा साथी होता है। फिर नजमा तो अपने साथ अपना अकेलापन सरहद के पार ले गई थी। वह कभी-कभी सोचती कि उसकी सास और ननदें उसकी मन:स्थिति को समझ क्यों नहीं पातीं। फिर शीघ्र ही अपने आपको समझाने लगती कि इसमें उनका क्या कसूर। वे बेचारी उतना ही तो सोच सकती हैं जितना उन्होंने सीखा है। उसकी सास हैरान भी होती कि उसे कैसी बहू मिली है।
नजमा बेटी तुम बाहर जा रही हो तो पंसारी से थोड़ा सामान भी लेती आना।
जी अम्मी। मुझे लिखवा दीजिए।
एक किलो मूँग साबुत, मलका, काले चने और ६ टिकिया लक्स साबुन। ओवलटीन का एक डिब्बा।
अरी बहू तुम ये कौन सी ज़बान में लिख रही हो?
जी अम्मी हिंदी में लिख रही हूँ।
अरे तुम्हें उर्दू लिखनी नहीं आती क्या?
नहीं अम्मी हमारे हिंदुस्तान में तो सभी लोग हिंदी लिखते हैं।
अरे हिंदू चाहे किसी ज़बान में लिखें, हमें क्या फ़र्क पड़ता है। मगर तुम तो मुसलमान हो। अपनी ज़बान में लिखो।
मगर अम्मी मुझे तो उर्दू लिखनी नहीं आती है। हाँ पढ़ ज़रूर लेती हूँ। हमारे हिंदुस्तान में तो बहुत से मुसलमान सिर्फ़ तेलुगू, तमिल या मलयालम जानते हैं। वहाँ हर मुसलमान की ज़बान उर्दू नहीं है।
या अल्लाह! कैसी लड़की मिली है, नजमा ये बात तुम समझ लो अच्छी तरह कि उर्दू तो तुम्हें सीखनी ही पड़ेगी।

नजमा की समस्या ये थी कि वह अपनी मर्ज़ी के विरुद्ध इमरान से विवाह करके पाकिस्तान रवाना कर दी गई थी। ऐसे में अगर उसे थोड़ा अतिरिक्त प्यार मिल जाता या फिर उस की मन:स्थिति को समझने का प्रयास किया जाता तो वह अवश्य ही अपने ससुराल से हिलमिल जाती। लेकिन कसूर ससुराल का भी कहाँ था। पूरे परिवेश में खलनायक कोई नहीं था। बस स्थितियाँ ही ऐसी थीं कि नजमा के लिए उनमें पिसना उसकी विवशता थी।

अपनी भोली ग़लतियाँ करने से भी बाज़ नहीं आती थी नज़मा। एक दिन जुबेदा से पूछ ही तो लिया, जुबेदा, यहाँ कराची में होली कहाँ खेलते हैं?
होली! ये क्या होती है?
यह एक त्यौहार होता है जिसमें सब एक दूसरे पर रंग डालते हैं।

अम्मी ने सुन लिया, नजमा बेटी, तू काफ़िरों जैसी बातें क्यों करती है। रंग खेलना इस्लाम में हराम है मेरी बच्ची। मैं तो समझ भी लूँगी क्योंकि मैं भी हिंदुस्तान की पैदायश हूँ, अगर कहीं इमरान के कानों में ये बात पड़ गई तो ग़ज़ब हो जाएगा। अब तू शादी करके यहाँ आ गई है बेटी, यहाँ के रस्मो-रिवाज़ में ढाल मेरी बच्ची। तू भूल जा कि तू हिंदुस्तान से यहाँ आई है। अब तू इस घर की इज़्ज़त है। इस इज़्ज़त को बनाए रख बेटी। तेरी ज़िंदगी अब इमरान है, होली नहीं।

नजमा प्रयत्न भी करती कि इमरान के प्रति उसके मन में कोई कोमल तंतु जन्म ले ले। किंतु इमरान का फ़ौजी अक्खड़पन उस तंतु को जन्म लेने से पहले ही कुचल देता। उसे रत्ती भर फ़र्क नहीं पड़ता था कि नजमा क्या महसूस कर रही है। उसे तो अपनी भूख शांत करनी होती थी जो हो ही जाती थी। प्रकृति ने बनाए हैं नर और मादा शरीर और प्रकृति ने ही बनाई है वासना। सृष्टि ने उत्पत्ति के लिए ही वासना को जन्म दिया है। सभी जानवर उत्पत्ति के लिए संभोग भी करते हैं। इंसान ने अपने आप को जानवरों से अलग करने के लिए प्रेम जैसी कोमल भावना का आविष्कार किया है। यदि प्रेम एवं वासना दोनों का समन्वय हो जाए तो जीवन के अर्थ ही बदल जाते हैं।

प्रकृति ने अपना रंग यहाँ भी दिखाया और नजमा गर्भवती हो गई। रेहान के जन्म ने इमरान के अहम की तुष्टि तो की ही। नजमा की थोड़ी इज़्ज़त भी बढ़वा दी। नजमा सोचती रह गई कि अगर कहीं गलती से भी बेटी पैदा हो जाती तो इमरान से क्या-क्या सुनने को मिलता। इमरान ख़ुश था कि पाकिस्तानी फ़ौज के लिए एक और सिपाही ने जन्म लिया है।

फ़ौजी स्कूलों में पढ़ते रेहान के साथ भी नजमा के कोमल तंतु नहीं जुड़ पा रहे थे। वह उसे अपने पुत्र से कहीं अधिक अपने पति का पुत्र ही लगता। उसके नाक नक्श भी इमरान पर ही गए थे। वैसे वह देख कर हैरान अवश्य होती कि कैसे प्रकृति एक छोटे से बालक में अपने पिता की शक्ल हू-ब-हू डाल देती है।

समय बीतता रहा। बांग्ला देश युद्ध को लोग भूलने लगे थे। लेकिन इंदिरा गांधी का नाम आज भी वहाँ एक बला की तरह लिया जाता था। बांग्ला देश इमरान के मन में एक नासूर बना बैठा था। वह हमेशा किसी ऐसे मौके की तलाश में रहता कि वह बांग्ला देश का बदला कश्मीर में ले सके। समय ने रेहान को भी बड़ा कर दिया। समय ने ही ऐसा भी किया कि रेहान के किसी भी और भाई या बहन ने जन्म नहीं लिया। इमरान और नजमा ने रेहान को अपनी-अपनी ओर से बेहतरीन परवरिश देने का प्रयास भी किया। लेकिन इससे हासिल ये हुआ कि रेहान चकरा-सा गया। दो लोग जिनकी सोच एक दूसरे से बिल्कुल विपरीत थी, एक बच्चे को अपनी-अपनी तरह से परवरिश देने का प्रयास कर रहे थे।

रेहान लंदन में पढ़ाई कर रहा था। शादी के छब्बीस साल बाद भी नजमा और इमरान के बीच यदि किसी चीज़ की कमी थी तो वो थी विश्वास की। इमरान का नजमा पर अविश्वास का सीधा-सीधा कारण था नजमा का हिंदुस्तानियत से बाहर न आ पाना, हिंदी भाषा का प्रयोग करना, होली में अतिरिक्त रुचि होना, उसकी स्कूल कॉलेज की सहेलियों की सूची में सभी नाम हिंदु लड़कियों के नाम होना और बार-बार अपना तकिया क़लाम दोहराना कि हमारे हिंदुस्तान में तो ऐसा होता है। वहीं नजमा के दिल में ये बात गहराई तक उतरी हुई है कि इमरान उसे कभी भी कहीं भी छोड़ सकता है। नजमा के दिल से इस घटना को हटा पाना लगभग असंभव है।

'बेगम साहिबा, अब तो आप भी कार चलाना सीख लीजिए। आप मोबाइल भी हो जाएँगी और कार चलाना तो एक अच्छी कला भी है।'
'आप क्यों तकलीफ़ करते हैं? हम किसी मोटर ड्राइविंग स्कूल से सीख लेंगे।'
'अरे बेगम, जब हम हैं तो स्कूल की क्या ज़रूरत! पूरे पाकिस्तान में हम से अच्छा उस्ताद आपको कहाँ मिलेगा?'
'देखिए मैं ग़लती करूँगी, तो आपको गुस्सा ज़रूर आएगा। फिर आपका मूड ख़राब होगा। चलिए हम कहीं घूम आते हैं। हम कार चलाना स्कूल से ही सीख लेंगे।'

किंतु इमरान हाशमी आज बहुत बढ़िया मूड में थे। नहीं माने। और हो गई कार की ट्रेनिंग शुरू।
'अरे बेगम ध्यान से। आप अगर क्लच दबाए बिना गेयर बदलेंगी तो सोचिए बेचारा गेयर क्या करेगा। टूट-फूट जाएगा और नुक़सान होगा सो अलग।'
नुक़सान की चर्चा सुनते ही नजमा के दिमाग में तनाव बढ़ गया। ग़लतियाँ भी उसी हिसाब से बढ़ने लगीं। बार-बार इमरान का टोकना और व्यंग्य कसना। 'नजमा जी, आप गाड़ी सांप की मानिंद क्यों चला रही हैं? ऐ सड़क पर चलने वालों सब जा कर अपने घरों में दुबक कर बैठ जाओ आज हमारी बेगम सड़क पर गाड़ी ले आई हैं, जिस-जिस को अपनी जान प्यारी हो, भाग लो सर पर पाँव रख कर।'

नजमा ने एक बार फिर कहा कि बाकी ट्रेनिंग फिर कभी हो जाएगी। लेकिन इमरान कहाँ मानने वाला था। जब नजमा ने ग़लत मोड़ की ओर मोड़ दी गाड़ी, तो इमरान फट पड़ा, 'बेगम हम अगर भैंस को भी कार चलाना सिखा रहे होते, तो वो भी अब तक बेसिक बातें सीख गई होती। आप तो कमाल करती हैं। आपके हिंदुस्तान में लोग ऐसे ही कार चलाते हैं क्या?'
बस, अब बहुत हो चुका था, 'हम अब कार नहीं चलाएँगे।' कह कर नजमा ने कार का दरवाज़ा खोला और कार से नीचे उतर गई। इमरान के अहम को ठेस लगी, 'अरे भाई अगर छोटी सी बात कह भी दी तो क्या फ़र्क पड़ गया?'
'हम ने कह दिया न, हमें कार चलानी नहीं सीखनी।'
'देखो नजमा, हम आख़िरी बार कह रहे हैं कि कार में बैठ जाओ और कार चलाओ, वर्ना हम से बुरा कोई न होगा।'
'हमारा फ़ैसला आख़िरी है। आप ड्राइविंग सीट पर आ जाइए।'
'अगर मैं ड्राइविंग सीट पर आ गया, तो आपके लिए अच्छा न होगा।'
'...'

इमरान ड्राइविंग सीट पर आए, कार स्टार्ट की और नजमा को घर से पाँच मील दूर सुनसान-सी सड़क पर अकेले छोड़ कर कार आगे बढ़ा दी।
नजमा सोचती रह गई कि ये हुआ क्या। वह अभी भी उम्मीद लगाए बैठी थी कि इमरान कार मोड़ कर वापस लाएँगे और उसे मना कर ले जाएँगे। लेकिन इमरान नहीं आए। नजमा वहीं सड़क किनारे बैठ कर खूब रोई। अल्लाह से ले कर संकटमोचन तक सभी को शिकायत भरे लहजे में याद किया। फिर हारी हुई खिलाड़ी की तरह, अपनी बेइज़्ज़ती की पोटली को साथ बाँधे, फटफटिया आटो रिक्शा पर घर पहुँची। वहाँ ज़ुबेदा ने बताया, 'भाभी जान, भैया तो क्लब चले गए हैं। रात का खाना वहीं खा कर आएँगे।' नजमा ने उस रात कुछ नहीं खाया। उसे एक बात का विश्वास हो चुका था कि यह इंसान उसे ज़िंदगी के किसी भी मोड़ पर अकेला छोड़ कर जा सकता है। विश्वास के काबिल नहीं है इमरान।

आजकल नजमा अपनी कविताओं की पेंटिंग बना रही थी। अपनी कविता को कैनवस पर उतारने का उसका शौक उसे एक ही थीम को दो कलाओं के माध्यम से पेश करने का मौका देता था। पाकिस्तान में राजनीतिक माहौल गरमा रहा था। कारगिल की तैयारियों में कर्नल इमरान हाशमी की भूमिका बहुत अहम थी। इमरान ने कभी नजमा को कारगिल के बारे में कोई सूचना नहीं दी।

कारगिल युद्ध शुरू हो गया। एक अजीब-सा युद्ध था। दोनों देश लड़ भी रहे थे और पाकिस्तान कहे भी जा रहा था कि उनका देश युद्ध में किसी तरह से नहीं जुड़ा हुआ है। दोनों ओर से लोग मारे जा रहे थे। बहुत से पाकिस्तानी सैनिक भी शहीद हुए। किंतु राजनीतिक कारणों से पाकिस्तानी सरकार ने उन शवों को पहचानने या स्वीकार करने से इंकार कर दिया। उन शवों में से एक शव कर्नल इमरान हाशमी का भी था। इमरान को कहाँ पता था कि उसका अंतिम सरकार हिंदुस्तान की थल सेना करेगी और वो भी भारत की धरती पर। उसका परिवार उसके शरीर के अंतिम दर्शन भी नहीं कर पाएगा।

इमरान की मौत के बाद नजमा पाकिस्तान में नितांत अकेली पड़ गई। अम्मी तो जन्नत के लिए कब की रवाना हो चुकी थीं। दोनों ननदें भी अपने-अपने घरों वाली थीं। नजमा को कराची कभी अपना घर लगा ही नहीं था और पाकिस्तान सरकार ने इमरान की मौत को कोई महत्व ही नहीं दिया था। मरणोपरांत कोई पदक तक नहीं। कोई ज़मीन या वजीफ़ा नहीं। राजनीति की शिकार नजमा ने भारत जाने का फ़ैसला किया। अपने हिंदुस्तान जा कर देखना चाहती थी कि वहाँ क्या कुछ बदला है।

लेकिन अब उसे भारत जाने के लिए वीज़ा लेना पड़ेगा। जिस देश की ख़ातिर वह कभी पाकिस्तानी नहीं हो पाई, आज वहीं जाने के लिए वीज़ा लेना होगा। इमरान की अच्छी जान पहचान थी, उसकी बेवा होने का एक लाभ तो था कि काम हो जाते थे। यह भी हो गया। किंतु अभी तो दोनों देशों में उड़ानों पर ही प्रतिबंध लगा हुआ था। नजमा पहले अपने पुत्र रेहान को मिलने लंदन गई, और वहाँ से ब्रिटिश एअरवेज़ से दिल्ली। बड़ी भाभी और उनके बच्चे नजमा को लेने आए थे।

दिल्ली से बुलंदशहर का सफ़र उसकी रगों में रक्त का बहाव बहुत तेज़ करता गया। सोच-सोच कर परेशान थी कि क्या चंदर आज भी वहाँ रहता होगा, क्या डाक्टर बन गया होगा, क्या उसे याद करता होगा? फिर मन ही मन मुस्कुरा भी रही थी। कितनी बेवकूफ़ है वो, भला चंदर ने क्या अपना जीवन नहीं जीना था। उसकी भी शादी हुई होगी, उसके भी बच्चे होंगे। कितना मज़ा आएगा चंदर के बच्चों को देखकर। अगर सब कुछ ठीक-ठाक रहा होता, तो वो बच्चे उसके अपने होते इस उम्र में भी उसके गाल लाल हो आए थे।

बड़े भाई के घर जाने से पहले तो वह दिल्ली को पहचानने का प्रयास कर रही थी। एअरपोर्ट इतना बड़ा और माडर्न हो गया था। रास्ते में चौड़ी सड़कें, फ़्लाइ ओवर, और सभी माडर्न कारें। जब भारत छोड़ कर गई थी तो बस एम्बेसेडर और प्रीमियर कारें ही तो होती थीं। क्या चंदर के पास भी अपनी कार होगी। अगर डाक्टर बन गया होगा तो ज़रूर होगी। चित्रा उसे देख कर क्या करेगी। बच्चे अपने फूफी को देख कर ख़ुश थे मगर पहली बार मिलने वाली झिझक ज़रूर थी। भाभी जान इमरान के बारे में बातें कर रही थीं। रेहान की पढ़ाई, नौकरी और शादी। भला भाभी से चंदर के बारे में कैसे पूछे। भाभी ने बताया कि चित्रा ने तो वहीं एक वकील से शादी कर ली थी। उसके तीन बच्चे हैं - एक बेटी और दो बेटे। इंदु शादी कर के लखनऊ चली गई थी। कमला से कोई संपर्क रहा नहीं था। चित्रा से मिलने को बेताब थी नजमा। क्या उसे पहचान लेगी? अगर पहचान गई तो कैसे व्यवहार करेगी?

घर आ पहुँचा। भाई जान से मुलाकात हुई। दुआ सलाम। औपचारिक बातें। छब्बीस साल पुरानी कड़वाहट को दोनों ही भुला देना चाहते हैं। बहन के जुर्म के लिए उसे देश निकाला देने के बाद मुलाक़ात के अवसर बने ही नहीं। आठ भाई बहनों में सबसे छोटी नजमा के बाद घर में कोई दूसरी शादी भी तो नहीं होनी थी जिसके लिए नजमा आने का प्रयास करती। अम्मी और अब्बा के इंतकाल देहावसान का दुख भी उसने पाकिस्तान में अकेले ही सह लिया था। वह एक ओर पाकिस्तान में अपने अकेलेपन से लड़ रही थी, अपने वतन की याद में तड़पी, वहीं वह यह भी नहीं भूली थी कि उसे कराची एक सज़ा के तौर पर भेजा गया था। इमरान उसकी सज़ा था, इनाम नहीं। छब्बीस साल की कैद हुई थी उसे, बामुशक्कत। जेल से छूट कर घर आई थी नज़मा। आज सज़ा देने वाले भी इस दुनिया में नहीं थे और सज़ा भी।

घर में भी बड़े भाई के रूतबे के साथ-साथ बहुत से परिवर्तन भी महसूस किए नजमा ने। बुलंदशहर में भी अब दिल्ली की सुविधाएँ आ पहुँची थीं। सब कुछ देखते हुए भी नजमा का दिल किसी भी चीज़ में नहीं लग रहा था। चित्रा का पता मालूम नहीं था - न उसे और न ही भाभी जान को। चित्रा के मायके जाना होगा। पता नहीं वहाँ कौन होगा। बिखरे हुए धागों को समेटना भी तो आसान काम नहीं होता। धागे उलझते जाते हैं - गाँठें नहीं खुल पाती हैं।

दो दिन के बाद चित्रा का पता लग पाया। और चित्रा तो नजमा को देख कर जैसे पगला सी गई। भूल गई कि तीन बच्चों की माँ है। समय जैसे थम-सा गया था। दोनों सहेलियों में जम के बातें हुईं। दोनों ने मिल कर भोजन बनाया। नजमा ने चित्रा को आश्चर्यचकित कर दिया, 'क्या कहा, तुम शाकाहारी हो गई हो! यह चमत्कार कैसे हो गया?'
'वहाँ कराची में सब गाय का मीट खाते थे। हमने तो ज़िंदगी में कभी नहीं खाया था। जब मना किया तो हम पर हिंदू होने का इल्ज़ाम लगा दिया। हमने फ़ैसला कर लिया कि हम मीट खाना ही बंद कर देंगे। हम ने घास फूस खाना शुरू कर दिया। अब तो यही खाना अच्छा लगता है। पहले-पहले अम्मी के हाथ के गोश्त की याद आती थी मगर अब तो सब पुरानी बातें हो गईं। वहाँ कराची में तो लोग हमें हिंदू ही कहने लगे थे।'
'कितने साल बीत गए न? यहाँ की याद तो खूब आती होगी? हम सहेलियाँ भी बिछड़ गईं। कोई लखनऊ में है तो कोई दिल्ली में। कांता तो मुंबई चली गई है। और सुरेखा को अमरीका वाला आ कर ले गया। पहले-पहले तुम्हारे बारे में खूब बातें करते थे फ़िर आहिस्ता-आहिस्ता सब के काम बढ़ते गए और नजमा रानी पीछे छूटती गई। हे नजमा कुछ पूछना चाहती है न तू? पूछ न, डरती क्यों है?'
'क्या पूछूँ चित्रा, अब तो पूछते हुए भी डर लगता है। तू बिना पूछे ही बता दे न।'
'याद है, वो होली, तुझे कैसे भूलेगी? तेरी तो ज़िंदगी ही बदल गई थी। उसका नाम, चेहरा कुछ भी याद है तुझे?'
'क्या कहूँ? क्या सुनना चाहती हो तुम? तुम्हें कैसे बताऊँ कि छब्बीस साल की कैद किस चेहरे की याद में बीती है। होली का त्यौहार तो मेरे लिए जीवन का पर्याय ही बन गया है। सच-सच बता क्या चंदर इसी शहर में है? उसकी पत्नी, बच्चे, परिवार, सब कुछ बता दे। मेरी बेशरमी से परेशान तो नहीं हो?'

चित्रा अपलक नजमा को देखती जा रही थी, 'एक बात सच-सच बता। तू होली के आसपास उसी के लिए आई है? क्या होली खेलने उसके पास जाएगी?'

'अब क्या होली, अब तो विधवा मुसलमान नजमा के होली खेलने वालों के पास जाने भर से ही होली अपवित्र हो जाएगी?'

भाईजान के घर जल्दी ही नजमा बच्चों के साथ घुल मिल गई। बच्चे रेहान के बारे में बातें करते। उसके लंदन में रह कर पढ़ने से वे खासे प्रभावित लग रहे थे। नजमा के शाकाहारी हो जाने से भाभी जान को भोजन का मीनू बनाने में ख़ासी परेशानी हो रही थी। बच्चों के लिए गोश्त बनाने के साथ-साथ अब सब्ज़ी और दाल भी बनानी होती। दो तीन दिन बस ऐसी ही बातें होती रहीं, जिनके न होने से नजमा को कोई फ़र्क नहीं पड़ता। कई बार तो नजमा बिना ठीक से सुने ही जवाब दे देती। उम्र के इस पड़ाव पर भी किसी ऐसे व्यक्ति से मिलने की चाह कितनी प्रबल हो जाती है जिसके हवाले कभी अपना जीवन कर देना चाहा था। बस प्रतीक्षा की घड़ियाँ दिल की टिकटिक से जुड़ती जा रही थीं। क्या ऐसे लोग दुनिया में सचमुच होते हैं जो अपने प्रेम की याद में ही सारा जीवन होम कर देते हैं? सोच कर ही नजमा के शरीर में सिहरन हो उठी। एक झुरझुरी-सी आ गई।

होली भी आ पहुँची। चित्रा अपने कहे अनुसार अपनी कार और ड्राइवर लिए आ पहुँची। नजमा ने पहली बार ध्यान से देखा कि चित्रा पहले से ख़ासी भर गई थी। नजमा आज भी इकहरा बदन ही लिए थी। उस पर रेहान के जन्म ने अपने अधिक निशान नहीं छोड़े थे। फिर नजमा एक्सरसाइज़ भी करती थी। योग के कुछ आसन उसे अब भी आते हैं। प्राणायाम तो करती ही है। इसलिए भी ससुराल में बदनाम थी।

चित्रा और नजमा ऊपर वाले कमरे में चली गईं। नजमा के चेहरे का एक-एक अंग कुछ कहता-सा प्रतीत हो रहा था। बेचैनी जैसे उसके आस पास एक छोटा-सा तालाब बनाए जा रही थी। नजमा कुछ पूछना चाहती थी और चित्रा सब कुछ बताना चाहती थी। अंततः चित्रा ने ही शुरुआत की, 'नजमा, मैं जानती हूँ तू कितनी बेचैन है चंदर के बारे में सब कुछ जानने के लिए। तेरा चंदर अब सचमुच का डॉक्टर बन गया है। अच्छी प्रेक्टिस है उसकी।'

'मेरा चंदर!' सोच कर ही नजमा को रोमांच हो उठा था। 'कितने बच्चे हैं उनके?' पत्नी के बारे में पूछना शायद फ़िज़ूल सा सवाल होता। और फिर नजमा तो उन बच्चों के बारे में ही सोच रही थी, जो कभी उसके अपने हो सकते थे।
'बच्चों का तो पता नहीं। लेकिन पत्नी का पता है।'
'तो फिर बता न, जो कुछ भी पता है।'
'तू शायद सह नहीं पाएगी। लेकिन फिर भी बता देती हूँ। तेरे जाने के बाद, मेरी बात ध्यान दे कर सुन, तुझे एक राज़ की बात बताने जा रही हूँ। तेरे चंदर ने तेरे जाने के बाद आज तक शादी नहीं की। डाक्टर साहब का बड़ा-सा घर है। घर में अकेला अपनी बूढ़ी माँ के साथ रहता है, एक नौकर है घर में, बस। न किसी शादी ब्याह में जाता है और न ही किसी पार्टी में। उसने फ्रेंच कट दाढ़ी भी रख ली है। अब तो बालों में सफ़ेदी की लट भी दिखाई देने लगी है। वैसे हमारा फ़ैमिली डाक्टर भी वही है। ग़रीबों का मसीहा बना हुआ है।'
'शादी नहीं की? सच कह रही है?'
'अब तुम से क्या झूठ बोलूँगी। होली पर घर से बाहर नहीं निकलता। साधु-सा हो गया है। तेरी तरह, शाकाहारी भी हो गया है। मैं भी हैरान थी कि तुम दोनों इकट्ठे।'

अब नजमा को कुछ और सुनाई नहीं दे रहा था। उसके चंदर ने शादी नहीं की। वो आज भी नजमा का है। चाहे नजमा उसकी हो या नहीं, वह बस नजमा का है, केवल नजमा का! नजमा का चेहरा आज फिर ठीक वैसे ही लाल हो गया, जैसे छब्बीस साल पहले हुआ था। बस आज उसे देखने के लिए दुर्गा मासी ज़िंदा नहीं थी।

काला सागर

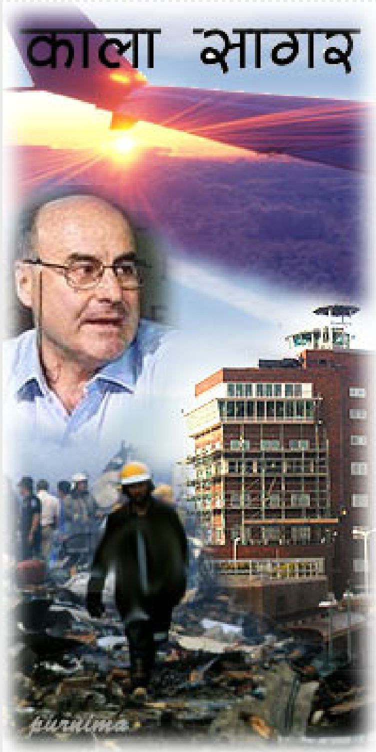

विमल महाजन ने आज दफ़्तर से अवकाश ले रखा था। उन्हें कई दिनों से लग रहा था जैसे उनका शरीर आवश्यकता से अधिक थकता जा रहा है। उन्होंने फैसला किया कि आज केवल आराम ही किया जाए, देर तक सोए। उठकर आराम से सुबह के कामों से निवृत्त हुए, और समाचार-पत्र लेकर बैठ गए।

आजकल समाचार-पत्र पढ़ने में उन्हें कोई विशेष रुचि नहीं रही थी। पंजाब में हो रही घटनाओं को पढ़कर उन्हें एक अजीब-सी बेचैनी होने लगती। उन्हें हमेशा याद आता था अपना वह छोटा-सा गाँव ज़गरांव ज़हाँ उनका जन्म हुआ था, लुधियाना के करीब ही। जब कभी बहुत प्रसन्न मुद्रा में होते, तो कहते, 'इस जगरांव में हिंदुस्तान की दो महान विभूतियों ने जन्म लिया है- एक थे लाला लाजपत राय, और दूसरा!' और वह हँस पड़ते। किंतु आजकल जैसे स्वयं से ही सवाल पूछते रहते थे, 'क्या हो गया है अपने पंजाब को?' एक दिन बहुत भावुक होकर बोले, 'रंजना, हम तो एकदम 'स्टेट-लेस' होकर रह गए हैं। यहाँ बंबई वाले तो नारा लगाते हैं 'सुंदर मुंबई मराठी मुंबई', यानी हम तो यहाँ के कभी नहीं हो सकते। और पंजाब जाने का अर्थ है, मौत को दावत देना। इतना बुरा हाल तो सैंतालीस में भी नहीं हुआ था।' और फिर वे एक गहरी सोच में डूब गए थे। कितना भयावह विचार है! आपकी मातृभूमि आपसे छिन जाए, बिना किसी अपराध के।

विमल महाजन को एयरलाइन की नौकरी करते तीस वर्ष हो गए थे। बस, चार-पाँच वर्ष में रिटायर होने वाले थे। सारी दुनिया ही उनके छोटे से संसार का हिस्सा बनी हुई थी। एक विमान-परिचारक की हैसियत से उन्होंने नौकरी शुरू की थी। परंतु अपनी मेहनत व ईमानदारी के बल पर इस उच्च पद पर पहुँच गए थे। इस बीच उनका विवाह भी हुआ और तीन बच्चे भी। कैसे समय निकलता जा रहा है उनकी मुठ्ठी से! वैसे उन्हें देखकर कोई यह नहीं मान सकता था कि वे दो-दो बच्चों के नाना भी हैं। इसका कारण संभवत: उनका पहनावा था, जिसके प्रति वे अतिरिक्त सचेत थे। इतने ही वे अपनी सेहत के बारे में भी थे। स्पष्टवादिता उनकी एक और विशेषता थी, जिसके कारण वे कभी प्रशंसा तो कभी आलोचना के पात्र बनते थे।

विमल महाजन ने समाचार-पत्र को दो-तीन बार उलट-पुलटकर देख लिया था और आरामकुर्सी पर अलसा रहे थे तभी फ़ोन की घंटी बजी। उन्हें काफ़ी कोफ़्त हुई। आज का दिन वे आराम से ही बिताना चाहते थे। टेलिफ़ोन या और कोई भी विघ्न उन्हें नहीं चाहिए था। अन्यमनस्क भाव से उन्होंने फ़ोन उठाया, फ़ोन एअरपोर्ट से ही था। वे झुंझलाए से स्वर में बोले, "भई, आज तो आराम करने दो।"

महाजन साहब, ग़ज़ब हो गया। 'ज़ीरो नाइन वन क्रैश हो गई। लंदन के पास।"

"क्या? मैं अभी पहुँचता हूँ।"

विमल महाजन के जबड़े थोड़े भिंच गए थे। वे जैसे याद करने का प्रयत्न कर रहे थे कि 'ज़ीरो नाइन वन', पर कौन-कौन क्रू-मेंबर होगा। लगभग बदहवासी की सी स्थिति में उन्होंने कपड़े पहने और ऑफ़िस चलने को तैयार हो लिए।
रंजना, उनकी पत्नी, समझ गई कि कोई गड़बड़ अवश्य है। जब कभी विमल महाजन परेशान होते तो उनके जबड़े भिंच जाते थे।
"क्या बात है? आप तो आज आराम करने वाले थे। फिर एकाएक कहाँ की तैयारी होने लगी है?"
"रंजू, न्यूयार्क फ़्लाइट क्रैश हो गई है। दफ्तर..."
"क्या? अरुण भी तो न्यूयार्क ही गया है।"
"अरुण! हे भगवान! सब ठीक हो। देखों, मैं अभी ऑफ़िस जाकर तुम्हें फ़ोन करूँगा।" विमल महाजन का स्वर भर्रा उठा था और वे अपनी बात पूरी नहीं कर पाए थे।

रास्ते-भर अरुण के विषय में ही सोचते रहे। उन्हें समझ नहीं आ रहा था कि अरुण की पत्नी को वे कैसे समाचार दे पाएँगे। अरुण उन्हें अपने बेटे के समान प्रिय था। उसके विवाह में वे अपने सारे सिद्धांतों को ताक पर रखकर, सिर पर पगड़ी बाँधकर, घोड़ी के सामने नाचे थे। अनुराधा, अरुण की पत्नी भी उनका बहुत आदर करती थी। उनके हाथ ठंडे हुए जा रहे थे। नास्तिक होते हुए भी, भगवान से प्रार्थना कर रहे थे कि अरुण सुरक्षित हो।

दफ्तर के बाहर कुछ लोग जमा थे यानी ख़बर फैल चुकी थी। सबके चेहरों पर सहमी हुई उत्सुकता थी। सब दुर्घटना के विषय में जानना चाहते थे। पर कैसे पूछें, कौन पूछे। उनके सहायक अफ़ज़ल ख़ान ने ही उन्हें बताया, "सर, फ्लाइट ज़ीरो नाइन वन माँट्रियल से लंदन आ रही थी। रास्ते में ही लंदन के करीब सागर के ऊपर ही फ्लाइट में एक धमाका हुआ और फ्लाइट क्रैश हो गई। अभी पूरी डिटेल्स आनी बाकी है।"

विमल महाजन ने अपने आपको व्यवस्थित किया, और लंदन फ़ोन मिलाने लगे ताकि पूरा समाचार मिल सके और वे आगे की कार्यवाही आरंभ कर सकें। परंतु फ़ोन मिल नहीं पा रहा था।
क्रू लिस्ट देखी। अरुण का नाम उसमें नहीं था। उन्हें काफ़ी राहत महसूस हुई। पर...पर जो लोग फ्लाइट पर थे, वे सभी उनके अपने परिचितों में से थे।

रमेश कुमार! जिसका अभी-अभी तीन महीने पहले ही विवाह हुआ था। माँ-बाप की इच्छा के विरुद्ध एक पारसी एअर होस्टेस से विवाह किया था उसने। दोनों ही इस फ्लाइट पर थे। काश, यह ख़बर झूठी हो! वे मन-ही-मन प्रार्थना कर रहे थे।

ख़बर फैलने के साथ-साथ लोगों की उत्सुकता बढ़ती जा रही थी। फ़ोन-पर-फ़ोन आ रहे थे। पर विमल महाजन का मन हो रहा था कि वे कानों पर हाथ रखकर बैठ जाएँ चुपचाप। किसी के प्रश्नों का कोई उत्तर न दें। पर चिंतित संबंधियों की जिज्ञासा शांत करना उनका कर्तव्य था।
यदि विमल महाजन स्वयं इस दुर्घटना से इतने विचलित हो गए हैं तो जिनके भाई-बहन, माँ-बाप, पति और न जाने कितने रिश्तेदार उस विमान में आ रहे थे, उनकी चिंता स्वाभाविक थी। और वे बिना अपना धैर्य खोए फ़ोन 'अटैंड' करने लगे।
टेलेक्स की खटखट शुरू हुई। लंदन से पहला संदेश आया: 'अनुमान है कि विमान आतंकवाद का शिकार हुआ है। विमान में 'क्रू' व यात्रियों सहित तीन सौ उनतीस लोग थे।

अभी किसी के बचने की कोई सूचना नहीं' यदि कोई बचा भी तो क्या ठंडे एटलांटिक के बर्फ़ीले पानी में जीवित रह पाएगा? विमल महाजन के मस्तिष्क के घोड़े जा रहे थे कहाँ तो यात्री और क्रू-मेंबर लंदन पहुँचने के बारे में सोच रहे होंगे, और कहाँ गहरे सागर का काला अंधेरा!

'क्या आतंकवाद का कोई धर्म होता है?' सोच जारी थी, 'क्या एक विमान उड़ा देने से आतंकवादियों की बातें मान ली जाएँगी? क्या इन तीन सौ उनतीस लोगों को भी शहीद कहा जाएगा? जलियाँवाला बाग में भी तो बिल्कुल इतने ही लोग शहीद हुए थे। देश उन्हें आज तक नहीं भुला पाया। क्या इन शहीदों को भी लोग याद रख पाएँगे? मारा तो उन्हें भी गोरी सरकार के आतंकवादी/अफ़सरों ने था। निहत्थे वे भी थे और निहत्थे ये भी। क्या फिर ऊधमसिंह खड़ा होगा जो कि इन आतंकवादियों का सफ़ाया करेगा?'

टेलिफ़ोन की घंटी बजी। विमल महाजन की तंद्रा टूटी। फ़ोन घर से था। रंजना भी अरुण के लिए परेशान थी।
शाम के सात बज गए थे। यात्रियों के नाते-रिश्तेदारों के टेलिफ़ोनों का तांता लग गया था। अब तो लोग एअरपोर्ट पर इकठ्ठे हो चुके थे। सबके मुँह पर एक ही सवाल था, 'कोई ख़बर आई?' सब मन-ही-मन अपने संबंधियों की ख़ैर की प्रार्थना कर रहे थे। उन सबकी भावनाओं के तूफ़ान को सँभाल पाना एअरलाइन के कर्मचारियों के लिए कठिन पड़ रहा था। विमल महाजन स्वयं सबको तसल्लियाँ दे रहे थे। लंदन से विस्तृत समाचार की प्रतीक्षा हो रही थी।
पत्नी का फ़ोन फ़िर आया। "आप एक बार घर आकर खाना खा जाते।" उन्होंने अपनी झुंझलाइट रंजना पर ही उतार दी।

ऐसे में भला कोई खाने के विषय में कैसे सोच सकता है? किंतु नहीं, उनके मातहत एक-एक करके अपने पेट को खूब शांत कर आए थे। केवल विमल महाजन स्वयं लोगों को दिलासा देने में व्यस्त थे। टेलेक्स से समाचार आ रहे थे। लंदन से सत्तर मील दूर आकाश में एक धमाका हुआ था और विमान सागर में खो गया था। यह भी कि नौकाएँ और पनडुब्बियाँ खोज के लिए भेजी जा रही हैं। विमल महाजन यंत्रवत अपना काम किए जा रहे थे। निश्चय हो गया था कि कोई नहीं बचा इस दुर्घटना में।

जहाज़ के कप्तान विक्रम सिंह विमल महाजन के मित्र थे। बंबई में जब कभी इकठ्ठे होते तो दोनों खार जिमखाना में शामें बिताया करते थे। ब्रिज दोनों का प्रिय खेल था। पर विमल महाजन कभी पैसे लगाकर ताश नहीं खेलते थे। कप्तान विक्रम सिंह सदा ही उन्हें 'पोंगा पंडित' कहकर चिढ़ाते थे। छः महीने में ही रिटायर होने वाले थे। पर अब जैसे कुछ भी शेष नहीं रहा था! न ब्रिज, न पोंगा पंडित कहने वाला उनका दोस्त।

फ्लाइट परसर अनिरुद्ध सेन की तो केवल छः महीने की बेटी है जब उनकी पत्नी को यह समाचार मिलेगा तो वह कैसे सहन कर पाएगी इस वज्रपात को? कई क्रू-मेंबर एअरपोर्ट पर इकठ्ठे हो गए थे। विमल महाजन ने कुछ लोगों को घरों में जाकर सूचना देने का काम सौंपा। बहुत कठिन काम था, वे जानते थे। समाचार सुनकर घर के सदस्यों की प्रतिक्रिया सोचकर उनका दिल बैठा जा रहा था। कैसे कहेंगे एक पत्नी को कि उसका पति अब कभी नहीं लौटेगा? कैसे कहेंगे एक बच्ची को कि तुम्हारे पापा अब कभी भी तुम्हारे लिए 'मिकी माउस' और 'डोनाल्ड डक' के खिलौने नहीं लाएँगे?

तीन-चार दिन सब कुछ अस्त-व्यस्त रहा। एअरपोर्ट पर संबंधियों का तांता लगा रहा। विमल महाजन भी पिछली कई रातों से सो नहीं पाए थे। समाचार-पत्रों में भी एक ही समाचार सुर्खियों में था। विमान-दुर्घटना के कारणों का पता लगाना था, 'ब्लैक बॉक्स' की चर्चा थी, जाँच-समिति का गठन, और बहुत-सी औपचारिकताएँ।

दो दिनों से फाका करते, सड़क के किनारे पर बैठे ननकू को भी कहीं से ख़बर लग गई थी। पोलियो ग्रस्त हाथ से सींगदाना चबाते हुए उसने अपने साथी पीटर को ख़बर सुनाई थी, "यार, यह विमान अगर गिरना ही था, तो साला समुद्र में क्यों गिरा? सोच, कितनी बढ़िया-बढ़िया चीज़ें-वी.सी.आर., टी.वी., सोना, साड़ियाँ सब-के-सब बेकार! यहीं कहीं अपने शहर के आसपास गिरता तो कुछ तो अपने हाथ भी लगता।"
"ए मैन, अभी धंधे का टाइम है। खाली पीली टाइम वेस्ट करने का नहीं क्या... हाँ भाई, गॉड का वास्ते इस ग़रीब को भी कुछ दे दो। जीज़स क्राइस्ट भला करेगा।"

विदेश के कई आतंकवादी गुटों ने इस दुर्घटना का उत्तरदायित्व ओढ़ा। जैसे कोई बहुत महान कार्य किया गया हो और वे उसका श्रेय लेना चाहते हों। बीमार, विकृत मानसिकता के लोग, जो निर्दोष लोगों को मौत की नींद सुलाकर गर्वान्वित अनुभव कर रहे हैं। विमल महाजन का मन वितृष्णा से भर गया।

एअरलाइन के हेड क्वार्टर में कई मीटिंगें हुई। तय हुआ कि विदेशी नागरिकों का वहाँ के कानून के अनुसार मुआवज़ा दिया जाएगा और भारतीयों को भारतीय कानून के अंतर्गत। रंगभेद का यह भी एक रूप था, चमड़ी-चमड़ी में फ़र्क जो है।
विमल महाजन ने प्रस्ताव रखा कि एक विमान 'चार्टर' किया जाए और मरने वालों के निकटतम संबंधियों का लंदन भेजा जाए, जिससे वे अपने प्रियजनों की लाशें तो पहचान सकें। उच्च अधिकरियों ने स्वीकृति दे दी।

'क्रू यूनियन' ने प्रत्येक मृतक क्रू-मेंबर के परिवार के लिए एक-एक लाख रुपया देने का फ़ैसला किया था। विमल महाजन को झटका-सा लगा जब रमेश कुमार के पिता उनसे मिलने दफ्तर पहुँचे।
"मिस्टर महाजन, मैं रमेश का पिता हूँ। आजकल मैं और मेरी पत्नी तलाक लेकर अलग-अलग रह रहे हैं। आपको याद होगा कि पिछले क्रैश में मेरी बेटी नीना की मौत हो गई थी। उस समय भी एअरलाइन और क्रू-यूनियन ने मुआवज़ा मुझे ही दिया था। मैं चाहता हूँ कि अब भी मेरे बेटे और बहू की मृत्यु का मुआवज़ा मुझे ही मिले। इससे पहले कि मेरी पत्नी इसके लिए अर्ज़ी दे, मैं आपके पास अपने क्लेम की यह अर्ज़ी छोड़े जा रहा हूँ ताकि आप इन्साफ़ कर सकें। मैं तो अब बूढ़ा हो चला हूँ। कमाई का अब और कोई ज़रिया है नहीं।"
"ठीक है, आप अर्ज़ी छोड़ जाइए। समय आने पर उस पर विचार किया जाएगा।"
"बड़ी कृपा होगी आपकी। नहीं तो इस उम्र में कोर्ट कचहरी जाने की तो शरीर में ताक़त नहीं रह गई। चलता हूँ।"
विमल महाजन किंकर्तव्यविमूढ़ से कुर्सी पर बैठे थे।
शिनाख़्त के लिए संबंधियों को लंदन ले जाने की पूरी ज़िम्मेदारी विमल महाजन को ही सौंपी गई। लंदन जाने के लिए संबंधियों का तांता लग गया था। विमल महाजन तय नहीं कर पा रहे थे कि किसे भेजें, किसे रोकें। हर रिश्तेदार अपना रिश्ता अधिक नज़दीकी बताता था ।

लंदन जाने के लिए विमान तैयार था। रोते-कलपते रिश्तेदारों के बीच विमल महाजन को स्वयं को संयत रख पाना काफ़ी मुश्किल लग रहा था।
मिसेज़ वाडेकर की हिचकियाँ अभी भी जारी थीं। उनका बेटा विदेश से बंबई केवल विवाह करने के लिए आ रहा था। उन्हें क्या पता था लंदन जाना पड़ेगा, डोली के स्थान पर अर्थी लेने। "मैं तो अपने बेटे को दूल्हा बनाकर ही विदा करूँगी।" मिसेज वाडेकर विक्षिप्त अवस्था में बड़बड़ाए जा रही थीं।

मगनभाई की बीस वर्षीया पोती विदेश से अकेली आ रही थी। उसके पिता को छुट्टी नहीं मिल पाई थी उसके साथ आने के लिए। खिड़की के पास बैठे हुए वे जैसे शून्य में देख रहे थे।

दो-दो मौतों का बोझ लिए दीपिंदर विमान में बैठा था। पिछले सप्ताह ही उसके पिता का देहाँत हो गया था और उन्हीं के अंतिम संस्कार के लिए उसका भाई सुक्खी अमेरिका से आ रहा था। दुःख में सब एक थे। किसी का भी कोई धर्म, मज़हब नहीं था। सुख में था भी तो आतंकवादियों को उससे कोई लेना-देना नहीं था। वह हर धर्म वाले को अपनी पशुता का शिकार बना लेते हैं।

विश्व-भर से अलग-अलग एजेंसियों ने एटलांटिक में खोजबीन शुरू कर दी थी। पहले विमान के कुछ क्षतिग्रस्त हिस्से मिले। फिर विक्षिप्त लाशें मिलनी शुरू हुई। लाशों को जैसे किसी ने उधेड़ दिया हो, चिंदी-चिंदी हुए शरीर। लाशें पहचानना भी बहुत कठिन काम था।

लंदन में सभी रिश्तेदारों के रहने, खाने-पीने की व्यवस्था एयनलाइन की ओर से मुफ्त की गई थी। विमल महाजन सभी कार्य बड़ी तत्परता से निभा रहे थे। स्वयं उन्हें अपने खाने-पीने और सोने का भी ध्यान नहीं था। वंचित लोगों की सेवा करके संभवतः वे स्वयं को संतुष्ट करना चाहते थे। उनका यही प्रयत्न था कि किसी भी यात्री को कोई शिकायत या असुविधा न हो।

एक यात्री विमल महाजन तक पहुँचा, "मिस्टर महाजन, खाना-पीना तो ठीक है, पर हमें आप कुछ अलाउंस वगैरह भी दिलवाने का प्रबंध करवा दें तो अच्छा होगा। हम सब इतनी जल्दी में आए हैं कि एफ़.टी.एस. का प्रबंध नहीं हो पाया। कम-से-कम इतना रोज़ाना भत्ता तो हमें मिलना चाहिए, जिससे हमें कहीं बाहर आने-जाने में मुश्किल न हो।" विमल महाजन हैरान!

शीला देशमुख के पिता किसी सरकारी महकमे में उच्च अधिकारी थे, "महाजन साहब, हमारी बेटी ने तो एअरलाइन के लिए जान दे दी। उसके बदले में आप हमें क्या देंगे? चंद रुपए। इस बुढ़ापे में हम उन रूपयों का क्या करेंगे? हमारी दूसरी बेटी अमेरिका में रहती है। हम चाहते हैं कि जब तक हम जिएँ, मुझे व मेरी पत्नी को हर वर्ष अमेरिका आने-जाने का मुफ़्त टिकट मिले, मैं मिनिस्टर साहिब से भी इस विषय में बात करूँगा।"

विमल महाजन की इच्छा हुई कि सब काम-धाम छोड़कर वापस चले जाएँ। इंसान इतना स्वार्थी भी हो सकता है! ये भावनाविहीन लोग इस हादसे से अपना-अपना स्वार्थ सिद्ध करने की कोशिश में लगे हैं। पर वे तो यह सारा काम अपने सहयोगियों को श्रद्धांजलि के रूप में कर रहे थे। उन्हें यह सब करना ही होगा। धैर्य के साथ...

लंदन के विक्टोरिया अस्पताल का एक हिस्सा। वहाँ लाशें इकठ्ठी की गई थीं। लाशें! लाशें!! गहरे नमकीन पानी में से निकाले गए विकृत शरीर। कौन कैसे पहचान कर पाएगा! भगवान ने कितनी दर्दनाक मौत लिखी थी कुछ इन्सानों के लिए! नवजात शिशु से लेकर सत्तर वर्ष तक की बूढ़ी लाशें। कहीं हाथ ग़ायब है तो कहीं टाँग नदारद। कहीं केवल धड़ ही है-ऊपर और नीचे के दोनों ही हिस्से गायब। किसी की अंगूठी पहचानने की कोशिश की जा रही थी, तो किसी का लॉकेट।

केवल एक लाश साबुत मिली थी। अपने मासूम चेहरे पर अपार दर्द लिए नैंसी, माँ और तीन छोटी बहनों का पेट भरने वाली नैंसी। चेंबूर की झोंपड़पट्टी से ऊँची उठी नैंसी। बिन बाप की बेटी नैंसी। कमज़ोर नारी होते हुए भी बलवान पुरुषों से कहीं अधिक पौरुषपूर्ण नैंसी। अब कभी भी खड़ी न हो पाएगी। माँ पछाड़ खाकर गिर पड़ी और सँभली। एक सच्चे ईसाई की भाँति वीरता दिखाई। बेटी की लाश को चूमा। बूढ़ी कोख में हलचल हुई। अपना पराया हो गया। किंतु अभी तीन बेटियाँ और घर में हैं। एक ने इसी साल बी.ए. किया है, बाकी दोनों स्कूल में हैं। उनके लिए माँ को मज़बूत बनना है। बेटी को घर ले जाने की तैयारी करने लगीं।

चेहरों पर निराशा साफ़ दिखाई देने लगी थी। किसी भी और लाश को पहचानना लगभग असंभव-सा लग रहा था। फ़ैसला किया गया कि सभी लाशों का सामूहिक क्रिया-कर्म किया जाए। यह भी तय किया गया कि क्रिया-कर्म सागर-तट पर ही होगा और वहीं मरने वालों की याद में एक स्मारक भी स्थापित किया जाएगा ताकि विश्व को चेतावनी मिले कि आतंकवाद क्या कर सकता है।

विमल महाजन धम्म से कुर्सी पर बैठ गए। रिश्तेदारों की दिक्कतें दूर करते, ब्रिटिश सरकार व एअरलाइन अधिकारियों से संपर्क व बातचीत करते उनका शरीर व दिमाग दोनों की थक गए थे। उस पर इतनी सारी लाशों का सामूहिक क्रिया-कर्म, उन्होंने आँखें मूँद लीं।
"मिस्टर महाजन!"
"जी।" उन्होंने आँखें मूँदे ही पूछा।
"आपसे एक सलाह चाहिए।"
"कहिए।" नेत्र खुले।
"जिस काम के लिए आए थे, वो तो हो गया। ज़रा बताएँगे, यदि शापिंग वग़ैरह करनी हो तो कहाँ सस्ती रहेगी? नए हैं न..."
उसके आगे बात सुनने की ताक़त विमल महाजन में नहीं थी।

हाउंसलो हाइ स्ट्रीट पर पचास-सौ की गिनती बढ़ने से कोई विशेष अंतर नहीं पड़ता। हर काम यथावत जारी है। डिक्संज़, बूट्स, मार्क्स, वुलवर्थ हर जगह कुछ अनजाने चेहरे दिखाई दे रहे थे। कल सुबह तो वापस बंबई चले जाना है। सभी यथासंभव सामान बटोरने में लगे थे।

लंदन में गर्मियों में भी सूर्य-देवता आँख मिचौली खेलते रहते हैं। आज उन्होंने पूर्ण विश्राम करने का निर्णय ले लिया है। बादल आसमान में चहलकदमी कर रहे थे। एअरपोर्ट पर एअरलाइन के काउंटर पर भी जो नज़ारे थे, वे कुछ कम क्षोभ पैदा करने वाले नहीं थे। सभी यात्री अधिक-से-अधिक सामान के साथ 'चेक-इन' करने की कोशिश कर रहे थे। काऊंटर क्लर्क शौकत अली जी को समझा रहा था।
"मिस्टर, पच्चीस किलो का तो आपका टी.वी. ही है। कुल मिलाकर साठ किलो वज़न है आपके सामान का। और हैंडबैग अलग। आप केवल बीस किलो सामान ले जा सकते हैं।"
"मगर मैं तो यहाँ अपने भाई की लाश पहचानने आया हूँ। हमारा केस फ़र्क है।"

"यह भाई की मौत का वज़न से क्या संबंध है?" एक बार फिर विमल महाजन को ही जा कर अनुरोध करना पड़ा। क्षुब्ध विमल महाजन जैसे-तैसे सबको समझाकर यात्रियों को 'चेक-इन' करवा पाए।

विमान ने उड़ान भरी। सीट-बेल्ट बाँधने के संकेत बंद हुए, तो केबिन में हलचल बढ़ने लगी। विमल महाजन अपनी रिपोर्ट लिखने में व्यस्त थे। यात्रियों को खाना दिया गया। विमल महाजन केबिन का मुआयना कर रहे थे। मिसेज़ वाडेकर ने खाने को छुआ तक नहीं था। वह अपने बेटे की लाश को दूल्हा नहीं बना पाई थीं। लाश की शिनाख्त ही नहीं हो पाई।
दीपिंदर दस दिन में दो-दो लाशों के क्रियाकर्म के ग़म से उबर नहीं पाया था।

कुछ यात्री ग़म ग़लत करने के लिए पेग-पर-पेग चढ़ा रहे थे।
"यार, पी ले आज, जी भरके। हमें कौन-से पैसे देने हैं। यह काम अच्छा किया है एअरलाइन ने।"
विमल महाजन थोड़ा और आगे बढ़े।"
"क्यों ब्रदर, आपने कौन-सा वी.सी.आर. लिया?"
"मुझे तो एन.वी.४५० मिल गया।"
"बड़ी अच्छी किस्मत है आपकी। मैंने तो कई जगह ढूँढा। आख़िर में जो भी मिला, ले लिया। हमें कौन-सा बेचना है!"
"..."
"..."
"आपने 'सोनी' ढूँढ ही लिया। कितने इंच का लिया?"
"२७ इंच का। और आपने?"
"हमारे भाग्य में कहाँ जी! जे.वी.सी. का लिया है। पर देखने में अच्छा लगता है। फिर च्वाइस कहाँ थी!"
मौसम में थोड़ी ख़राबी हुई, यात्रियों को एक झटका-सा महसूस हुआ। विमान 'ब्लैक सी' के नज़दीक उड़ान भर रहा था।

(16 नवंबर 2004 को अभिव्यक्ति में प्रकाशित)

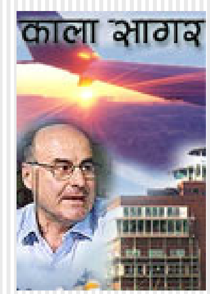

गंदगी का बक्सा

लन्दन में हिमपात हुए तो एक अर्सा बीत चुका है। लन्दनवासी अब बर्फ़ देखने के लिए स्कॉटलैंड या अन्य उत्तरी शहरों की ओर जाते हैं। सफेद क्रिसमस तो अब किताबों, कार्डों, या लोगों की यादों में ही दिखाई देता है। किन्तु जया और दिलीप के रिश्तो में जो ठण्डापन पैठ गया है, वह जमीं हुई बर्फ़ से कहीं अधिक सर्द और भयावह है!

आज लगभग दो वर्ष होने जा रहे हैं। दिलीप ने काम धाम छोड़ रखा है। घर में भी शराब और शाम को 'पब' मे भी शराब। नाश्ते और भोजन मे केवल शराब ही शराब। ऐसा क्या दुख है दिलीप को? वह क्यों नहीं समझ पा रहा है कि उसके इस व्यवहार से जया को कितना दुख पहुँच रहा है? वह बेचारी दिन भर नौकरी करती है, घर आ कर अपनी बेटी पलक की पढ़ाई में सहायता करती है, और रात को भोजन बना कर दिलीप की प्रतीक्षा करती है। अब तो प्रतीक्षा करना भी बन्द कर दिया है।

"मोह माया को त्याग दो! जीवन का एक ध्येय बना लो, कि जानते बूझते किसी भी प्राणी का दिल नहीं दुखाओगे। बस सत्कर्म करते रहो। फल की चिन्ता मे समय व्यर्थ ना करो। काम और वासना के पीछे भागना छोड़ दो। यह शरीर गन्दगी का बक्सा है। प्रकृति ने वासना के लिए उपयुक्त अंगों को मलमूत्र बाहर निकलने का रास्ता भी बना दिया है। गन्दगी से बचो। अच्छे कर्म कभी व्यर्थ नहीं जाते।" गुरु जी की बातें, जया के दिमाग को मथती रहती है।

आजकल जया स्वाध्याय के सत्संग में चली जाती है। कुछ समय के लिए ही सही, शरीर और उस से जुडी समस्याओं से छुटकारा-सा मिलता दीखता है। "जो सुख में सुमिरन करे तो दु:ख काहे को होये?" इस बात का जया के पास कोई उत्तर नहीं। जीवन की गति शुरू-शुरू में इतनी तीव्र थी कि उसके पास स्थूल बातों के अतिरिक्त किसी भी विचार के लिए समय नहीं था। सूक्ष्म को जानने या समझने के लिए समय ही कहाँ था?

राज ही एक ऐसा व्यक्ति है जिसके साथ हर विषय पर बातचीत कर लेती है। विषय चाहे सूक्ष्म हो या स्थूल, राज के पास जैसे हर प्रश्न का उत्तर मौजूद रहता है। वह कई बार सोचती भी है कि यदि दिलीप और इसके बीच एक खाई-सी न बन गई होती तो क्या राज उसकी सोच के दायरे में कदम भी रख सकता था? राज शराब नहीं पीता, माँस नहीं खाता, सिगरेट से भी परहेज, फिर तम्बाखू का तो सवाल ही कहाँ उठता है! क्या यहीं कारण है कि जया राजन के साथ समय बिता कर थोड़ा हल्का महसूस कर लेती है। केवल इतना कारण ही तो नहीं हो सकता। जया सदा ही दिलीप में एक मित्र तलाशती रही, किन्तु वह मित्र उसे राज में ही मिला। पति पत्नी एक दूसरे के मित्र क्यों नहीं बने रह पाते? लेकिन ज्योति और दक्षा के भी तो प्रेम विवाह ही हुए थे। जब भी उनसे बात करती है, तो उनके मन में भी यही परेशानी पाती है कि विवाह के बाद उनके पति केवल पति ही बन कर रह गए हैं। मित्र न जाने कहाँ खो गए हैं। परन्तु उन दोनों के पति अपने व्यापार में जुते होने के कारण अपनी-अपनी पत्नियों के मित्र नहीं बन पाते। दिलीप की तरह समय को शराब में नहीं बहाते रहते।

जया ने राज से ही तो प्रश्न किया था, "राज, क्या वास्तव में जीवित रहते, मोह माया से मुक्ति मिल सकती है? तुमने कैसे इतनी आसानी से अपने जीवन की आवश्यकताओं को इतना सीमित कर रखा है? मैं क्यों ऐसा नहीं कर पाती?"
"जया, मैंने एक घटना राजा जनक के बारे में पढ़ी है। वे राजा होते हुए भी एक सन्यासी थे। राजशाही के बावजूद उनके दरबार में काफी हद तक लोकतन्त्र मौजूद था। उनके दरबार मे किसी ने प्रश्न किया कि ऐ राजन, तुम संसार के सभी सुख भोग रहे हो, राजा हो, चांदी के बर्तनों में भोजन करते हो, सोने के पलंग पर सोते हो और फिर भी चाहते हो कि हम मान ले कि तुम मूलतः सन्यासी का जीवन जी रहे हो? यह कैसी राजनीति है?"

राजा जनक कुछ देर विचार करते रहे। एकाएक उन्होंने आदेश दिया कि ऐसा प्रश्न करने वाले को दो दिन पश्चात फाँसी पर लटका दिया जाए। भला राजा की आज्ञा का उल्लंघन कैसे हो सकता था। उस व्यक्ति को कारागार में पहुँचा दिया गया। किन्तु कारागार में उसे मखमली बिस्तर दिए गए, भोजन के लिए नाना प्रकार के व्यंजन दिए गए, परिचारिकायें उसे उबटन लगा कर स्नान करवाने के लिए आईं। जीवन का हर सुख जो वह व्यक्ति सोच तो सकता था किन्तु महसूस नहीं कर सकता था, उसे दिया गया। और दो दिन पश्चात उसे राजा जनक के दरबार में लाया गया। राजा जनक ने उस व्यक्ति से पूछा कि ऐ महानुभाव तुम्हें फांसी तो अभी लग ही जाएगी, किन्तु तुम से एक प्रश्न करना चाहता हूँ। पिछले दो दिनों में तुमने जीवन का हर सुख भोगा। क्या तुम्हें याद है कि तुम ने भोजन में क्या क्या व्यंजन खाएँ? क्या तुम्हें याद है कि उस मखमली चादर का रंग क्या था जिस पर तुम सोये थे। उस परिचारिका का चेहरा या नाम याद है जिस ने उबटन लगा कर तुम्हें स्नान करवाया था। वह व्यक्ति आँखें नीची किए बोला, "राजन, मुझ पर तो मृत्यु की तलवार लटक रही थी। भला मैं उन सुखों का आनंद कैसे ले सकता था।"

राजा जनक ने शांत स्वर में उत्तर दिया, "मेरे मित्र, ठीक उसी तरह मैं भी इन सुखों को भोग नहीं पाता। मैं भी मृत्यु से आतंकित हूँ, मैं जनता के दुखों से पीड़ित हूँ। मेरे लिए इन सुखों का कोई अर्थ नहीं हैं।" यह कह कर राजा ने उस व्यक्ति की फांसी की सज़ा माफ़ कर दी।

जया एकटक राज की बातें सुनती जा रही थी। कितने सुन्दर ढंग से उसकी हर बात का उत्तर देता है यह इन्सान। कितना सरल किन्तु कितना कठिन था उसका प्रश्न। और राज ने उस प्रश्न का उत्तर देने के लिए अपनी संस्कृति में से ही कथा खोज ली। वह राज से पूछ बैठती है, "राज, तुम अपना एक आश्रम क्यों नहीं खोल लेते। जितनी अच्छी बातें तुम कर लेते हो, जितना अपने आप हर तुम्हारा नियंत्रण है, उस हिसाब से तो तुम्हें स्वामी जी होना चाहिए। तुम्हें संसार को अपना सारा ज्ञान बाँटना चाहिए।" राज बस मुस्करा भर देता।

मुस्कुराहट ही तो जया के जीवन से गायब हो गई है। दिलीप से विवाह अपने आप में उसके जीवन के लिए एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। उसका चार फुट दस इन्च का दुबला पतला शरीर, सपाट सीना, देखने में भी कहीं ग्लैमर का नामोनिशान नहीं। उस पर पढ़ाई लिखाई के शौक ने बचपन से ही आँखों पर चश्मा चढ़वा दिया था। माँ बाप को बस एक ही चिन्ता कि बेटी का विवाह होगा तो कैसे! जया को बार बार यह याद दिलवाया जाता था कि उसकी साधारण शक्ल और सूरत के कारण ही देखने वाले नापसन्द कर जाते हैं। घर की एलबम में से जया के सभी चित्र एक एक कर लड़के वालो के यहाँ पहुँच चुके थे। अब तो उसे फोटोग्राफर की दुकान पर जाना भी अखरने लगा था। दिलीप ने तो उसे बिना देखे, बिना मिले ही विवाह कर लिया था। जया ने तो मन ही मन तय कर लिया था कि सारा जीवन ऐसे पति की सेवा करेगी जिसने उसे अपने ही परिवार की चुभती हुई निगाहों के प्रश्नों से बचा लिया। वह अपने दिलीप के साथ ही चित्र खिंचवाया करेगी।

चित्र भी समय के साथ-साथ धुंधले पड़ जाते हैं। हर समय एक ही अपनी सच्चाई होती है। जया को भी शनैः शनैः मालूम होता गया कि दिलीप ने उससे बिना मिले विवाह क्यों कर लिया था। उस सच्चाई ने उसके शुरुआती सपनों को आहत कर दिया था। दिलीप को विनोदिनी के माता पिता ने स्वीकार नहीं किया था। विनोदिनी ने घर से भागकर विवाह करने से इन्कार कर दिया था। यदि विनोदिनी नहीं तो कोई भी चलेगी। माँ को प्रसन्न ही तो करना है। इसी कारण दिलीप और जया के सम्बन्धों में कोई कोमल तन्तु जुड़ नहीं पाया। उनका मिलन केवल शारीरिक ही था। उनकी आत्मायें कभी एक नहीं हो पाई। शरीर मिलने के परिणाम स्वरूप पलक का जन्म भी हो गया। किन्तु दिलीप को न तो कभी जया में कोई विशेष रुचि थी और न ही पलक में।

पलक अभी एक वर्ष की ही रही होगी कि दिलीप के भाई ने उन्हें लन्दन आ कर बसने की दावत दी। दिलीप को इसमें भी कोई रुचि न थी। किन्तु जया को लगा शायद लन्दन जा कर दिलीप का व्यवहार बदल जाए। ठीक सोचती थी जया। दिलीप का व्यवहार बदल ही तो गया है। न जाने परमात्मा को क्या मंजूर है!

"परम पिता परमात्मा मे विश्वास की तीन स्थितियाँ हैं। हर व्यक्ति परमात्मा में विश्वास करता है अपने संस्कारों के हिसाब से। एक ईसाई जब कभी प्रभू के बारे में सोचेगा तो स्वयंमेव ही यीशू का चेहरा उसकी आँखों के सम्मुख आ जाएगा। एक मुसलमान अल्लाह के अतिरिक्त परमात्मा के विषय में सोच ही नहीं सकता। हिन्दु भी शंकर, विष्णु, राम और कृष्ण में अपना भगवान खोजता है। यदि आर्य समाजी है तो $ में अपना प्रभू ढूँढेगा। किन्तु इनमें से कोई विरला ही ऐसा होगा जो अपने परिवेश से आगे बढ़ कर परमात्मा के विषय में सोच पाए। तर्क़ की दृष्टि से सोचा जाए तो धर्म मनुष्य की सोच को सीमित कर देता है; उसे अध्यात्म की राह पर जाने के अन्य मार्गों से विमुख करता है।"

"किन्तु राज इसमें ग़लत ही क्या है। जो व्यक्ति जिस राह से वाकिफ़ है वही राह तो चुनेगा।"

"प्रश्न राह चुनने का नहीं हैं जया। विडम्बना यह है कि मनुष्य उस राह का ही पुजारी हो जाता है जो कि उसे परमात्मा तक ले जाती है। परमात्मा को भूल जाता है। धर्म और अध्यात्मवाद दो भिन्न भिन्न वस्तुयें हैं। महत्त्वपूर्ण बात है परमात्मा में विश्वास। रीति रिवाज या आडम्बर परमात्मा से दूर तो ले जा सकते हैं कभी भी परमात्मा को पा नहीं सकते।"

"तुम विश्वास की तीन स्थितियों की बात कर रहे थे।" जया को फिर से राज की बातों में वह सुख मिल रहा था जिसके लिए वह दिलीप के साथ बाईस वर्ष रह कर भी तरसती रही थी।

"देखो जया तुम्हें एक उदाहरण देता हूँ। एक व्यक्ति एक रेस्टॉरेण्ट में भोजन करने जाता है। वह एक परिवेश में जा कर बैठता है। सबसे पहले बेयरा उसके पास आ कर मेनू कार्ड रख जाता है। वह उस मेनू कार्ड को पढ़ता है और व्यंजनों के नाम पढ़ कर ही उसे महसूस होता है कि उसे स्वादिष्ट भोजन मिलने वाला है। उसके मुँह में पानी आने लगता है। उसकी स्थिति ठीक उस व्यक्ति जैसी है जिसे केवल बताया गया है कि भगवान में विश्वास करो। यदि उसमें विश्वास करोगे तो स्वर्ग मिलेगा अन्यथा नरक में वास करना होगा। वह व्यक्ति या तो डर के कारण भगवान में विश्वास करता है या फिर लालच के कारण। उसने स्वयं भगवान के अस्तित्व को महसूस नहीं किया है। दूसरी स्थिति है उस व्यक्ति की जो कि रेस्टॉरेण्ट में बैठे दूसरे ग्राहकों को भोजन करते देखता है और उनके चेहरे के हावभाव देख कर अन्दाज़ लगाता है कि भोजन कितना स्वादिष्ट होगा। यानि के वह अपने आसपास के लोगों को परमात्मा की पूजा कर उन्हें आत्मिक आनंद लेते देखता है। अभी भी उसे स्वयं यह ज्ञात नहीं है कि भोजन का असली स्वाद क्या

है। तीसरी और सबसे महत्वपूर्ण स्थिति उस मनुष्य की है जो कि भोजन को स्वयं खा कर भोजन के स्वाद को महसूस करता है। यानि कि वह स्वयं परमात्मा से आत्मसात हो कर प्रभू के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त करता है और उसे जो सुख प्राप्त होता है वह नैसर्गिक सुख है। उस सुख को शब्दों में व्यक्त कर पाना लगभग असंभव है।"

"राज, तुम अपने ज्ञान को लोगों में बाँटते क्यों नहीं? संसार को हक है कि सब तुम्हारी बुद्धि, तुम्हारे ज्ञान का लाभ उठा सके।"
"अभी तो मैं स्वयं ही अज्ञान के अन्धेरे में भटक रहा हूँ। मैं स्वयं परमात्मा के साथ अपना तारतम्य नहीं बना पाया हूँ। भला, मैं कैसे किसी को जीवन की राह दिखा सकता हूँ?"
राह से तो भटक रही थी जया की पलक। दिलीप के असंतुलित व्यवहार के चलते, एक पलक ही तो थी जिसके होते जया को जीने का कारण मिल जाता था। आज वही जया को दुख देने पर उतारू थी। कम से कम जया तो यही सोचती थी। पलक एक मुसलमान लड़के से प्रेम कर बैठी थी। जया का तो समस्त संसार डगमगा सा गया था। जया के दिमाग में मुसलमानों को लेकर बहुत-सी गाँठें थीं। लन्दन के सन्राइज रेडियो पर भी जब कभी अपराध के समाचार आते तो अधिकतर उनमें मुसलमान लड़कों के ही नाम सुनाई देते थे। जया की अपनी ममेरी बहन मुंबई में एक मुसलमान लड़के से विवाह कर घर से भाग गई थी। सारा परिवार सकते में आ गया था। उनके क्षेत्र में दंगा होते होते बचा था। शिवसेना और मुस्लिम संस्थाओं के बीच ठन गई थी। राजनीतिज्ञों के बीच बचाव से ही दंगा रुक पाया था। मामा जी तो यह सदमा सह नहीं पाए थे। मामी ने "अपने पति की हत्यारिन" से आज तक बात नहीं की थी। माफ़ करने जैसी स्थिति तो आई ही नहीं।

दिलीप से बात करे या न करें। कहीं शराब के नशे में कोई बेवकूफी न कर बैठे। जवान लड़की का मामला है। किस से सलाह करे? पलक को समझाया भी, परन्तु जवानी कब समझदारी का परिचय देती है? जब रक्त में गर्मी होती है तो तर्क ठण्डे पड़ जाते हैं। पलक को तो यह भी समज नहीं आ रहा था कि इमरान में कमी किस बात की है। उसके पिता डॉक्टर है, उसकी माँ बैंक में काम करती है, और इमरान अपने कालेज का श्रेष्ठ छात्र है। फिर समस्या क्या है?

वह नहीं समझती कि इमरान मुसलमान तो है ही उस पर पाकिस्तानी भी है। "पर मम्मी, इमरान पाकिस्तानी कैसे हो सकता है? वह तो यहीं लन्दन में पैदा हुआ था। जैसे मैं कैसे इण्डियन हो सकती हूँ। मैं भी ब्रिटिश हूँ और इमरान भी ब्रिटिश है। तो जब दो ब्रिटिश शादी करना चाहते हैं तो प्रॉब्लेम क्या हे? आई डोण्ट केयर कि इमरान किस धर्म को मानता है। ही इज नॉट आस्किंग मी टु चेन्ज माई रिलिजन। और फिर में इमरान कौन सा उसके मम्मी पापा के साथ रहने वाले हैं। हम लोग तो अपने घर में रहेंगे।"

कितना आसान है पलक के लिए पलकें झपकाते हुए कह देना कि दे आर ब्रिटिशर्स! बेवकूफ़! इतना भी नहीं समझ पाती कि बड़े-बड़े युद्ध जीत लेना कहीं आसान बात है। किन्तु छोटे-छोटे महायुद्ध लड़ना एक अलग ही समस्या है। प्रेमी युगल कितने कम समय में हिन्दु या मुसलमान में परिवर्तित हो जाते हैं, इस का तो पता ही नहीं चलता। कोई भी इन्सान अपने परिवेश से बड़ा नहीं हो पाता। धर्म हमारी शिराओं में हमारे रक्त का एक अटूट भाग बन उसके साथ बहता रहता है। हमारे सोचने समझने का ढंग हमारे धर्म से कब संचालित होना शुरू हो जाता है इसका तो हमें पता ही नहीं चलता। आजान की आवाज़ सुनते ही एक मुसलमान मन ही मन नमाज़ पढ़ने लगता है तो कहीं दूर किसी मन्दिर से आती आरती किसी भी हिन्दु का दिल श्रद्धा से भर देती है। हमारे सोचने, जीने, खाने पीने और मरने के ढंग भी जुदा-जुदा है। खाली पलक के कह देने मात्र से कोई मुसलमान ब्रिटिशर नहीं बन जाएगा।

हर समस्या न जाने राज पर जा कर ही कैसे दम लेती है। एक बार फिर जया राज के सामने हैं। यदि दिलीप उसके अपने पास होता तो क्या वह राज के पास कभी भी जाती? शायद उसके बारे में सोचती भी नहीं। लेकिन वर्षा की बेटी ने भी तो ईरानी मुसलमान से विवाह किया है। तो फिर उसकी अपनी पलक भला ऐसा क्यों नहीं कर सकती? किन्तु ईरान और पाकिस्तान के मुसलमान में भी तो अन्तर होता है न! जहाँ भारत और पाकिस्तान के सम्बधों में तनाव उत्पन्न होता है वही पति पत्नी के सम्बन्धों में भी कड़वाहट शुरू हो जाती है।

लेकिन वर्षा की बेटी भी आजकल हर पार्टी में अकेली ही दिखाई देती है। उसका ईरानी पति न जाने अचानक कहाँ गायब हो गया है। "यह पाकिस्तानी भी न जाने कब तक हमारी ज़िन्दगी में कड़वाहट घोलते रहेंगे। भगवान में विश्वास रखने वाले परिवार की बेटी को नमाज़ पढ़ना सिखा देंगे! भारत के टुकड़े करवा कर भी यह कहाँ चुप बैठने वाले हैं। हमारी बेटियों पर नज़रे गड़ाए बैठे हैं।" जया के दिमाग में मंथन जारी है। उसे डर है कि भारतीय सभ्यता नहीं बचने वाली। यहाँ पैदा हुए बच्चे भला कहाँ भारतीय संस्कृति का बोझ ढो पाएँगे।

"मुझे समझ नहीं आता कि तुम्हारी संस्कृति इतनी जल्दी खतरे में कैसे आ जाती है। तुम्हारी परेशानी यह है कि तुम जीवन को व्यापक रूप में नहीं देख पाती हो। यदि दुनिया के सभी लोग मुसलमान हो जाएँ या फिर ईसाई हो जाएँ उससे अंतर क्या होगा। यह अस्मिता, यह पहचान, यह संस्कृति कोई जड़ वस्तु नहीं हैं। यह परिवर्तनशील है। इस पृथ्वी पर कुछ भी स्थाई नहीं हैं। अब तुम सोचो क्या सभी मुसलमान एक है? कोई शिया है तो कोई सुन्नी, कोई अहमदिया है तो कोई बोरी, फिर आगाखानी भी है और न जाने कितने अन्य। तुम्हें केवल इसी बात से प्रसन्न होना चाहिए कि दो इन्सान आपस में प्यार करते हैं और बाकी का जीवन इकठ्ठे बिताना चाहते है। अरे जब यह जीवन ही चिरस्थाई नहीं है तो मनुष्य द्वारा बनाई गई विवाह जैसी संस्था कैसे स्थाई हो सकती है?" राज पलक की वकालत करता दिखाई दे रहा था और जया की परेशानी का कोई हल मिलता नहीं दिखाई दे रहा था।

जया टूटने लगी है। दिलीप में कोई बदलाव आता नहीं दिखाई दे रहा। शराब, शराब और बस और शराब। अब तो जया को मारने भी लगा है। बैंक अकाउण्ट में से पैसे गायब हो जाते हैं। मकान की मॉरगेज की किश्त भी जानी बंद हो गई है। बिल्डिंग सोसाइटी की चिठ्ठी भी आ गई है कि किश्त न दिए जाने पर कुर्की करवा देंगे। जया का रक्तचाप बढ़ गया है। दिलीप के भाई ने भी पल्ला झाड़ लिया है। वह बेचारा भी क्या करे।

जया ने हिम्मत जुटा कर दिलीप से बात शुरू की है, मॉर्गेज के पैसे कहाँ गए?
- इस बार ज़रा हाथ तंग हो गया था।
- बार में देने के लिए पैसे हैं और मॉर्गेज के लिए हाथ तंग था। अगर घर हाथ से निकल गया तो जवान बेटी के साथ सड़क पर रहना पड़ेगा।
- बोला न हाथ तंग हो गया था।
- शराब पीने के लिए पैसे होते हैं और मॉर्गेज के लिए हाथ तंग हो जाता है!
- शट अप यू बिच! और शराब के नशे में धुत दिलीप के हाथ का गिलास चार फुट की जया के कंधे से टकराया।

न जाने अचानक जया में कैसे इतनी शक्ति आ गई कि उसने पास रखा कॉर्डलेस टेलिफोन उठा कर दिलीप पर दे मारा। और दिलीप ने जया को बालों से खींच कर सोफे पर पटक दिया। उसके बाद तो जया पर घूंसे और लातों की बरसात-सी शुरू हो गई। शोर सुन कर पलक कमरे में चली आई। माँ को पिटते देख घबरा गई। सीधे पुलिस को फोन किया। और पुलिस आ कर दिलीप को अपने साथ ले गई। माँ छोटे बच्चे की तरह सिसक रही थी और पलक एकाएक माँ बन गई थी। जया के बालों में हाथ फिरा रही थी। सुबह को होना था, हो गई। नशा उतरने के बाद पुलिस ने दिलीप को छोड़ दिया।
- इतना सब हो गया, और तुमने मुझे फोन तक नहीं किया? राज जया के विषय में चिन्तित था।

पचासवें जन्मदिन पर जया खुशी की जगह सुबक रही थी। मुंबई का जीवन बस एक फिल्म की तरह उसकी आँखों के सामने घूम रहा था। माँ बाप के प्यार से लेकर दिलीप की मार तक के जीवन के बारे में सोच रही थी। राज ने जया का चेहरा अपने हाथों में लेकर उसकी आँखों में देखा। जया उसके कन्धों पर सिर रख राज से लिपट गई।

- यह शरीर गंदगी का बक्सा है। वासना को त्याग दो। गुरु जी के सभी शब्द जैसे किसी कुँए की गहराई में से आते प्रतीत हो रहे थे। गहराई! हाँ वह पूरी तरह गहराई तक राज के साथ उतर जाना चाहती है। जीवन ने उसे सिवाय दर्द के कुछ और नहीं दिया है। आज राज उसके हर दुख को सोख कर अपने भीतर उतार लेगा। आज दोनों दिमाग से बात नहीं कर रहे। आज राज और जया के दिल एक हो रहे हैं।

शरीर का सुख क्या होता है, यह जया को जीवन में पहली बार अपने पचासवें जन्मदिन पर महसूस हुआ!

(24 मार्च 2003 को अभिव्यक्ति में प्रकाशित)

ढिबरी टाइट

गुरमीत एकाएक ठहाका लगाकर हँसा। घर के सभी सदस्य चौंक पड़े। गुरमीत तो लगभग दो वर्ष से दुःख के उस गहरे समुद्र में डूब चुका था, जहाँ से उसे खींचकर निकाल पाना शायद कठिन ही नहीं असंभव-सा भी लग रहा था। फिर वही गुरमीत, एकाएक बच्चों की-सी प्रसन्नता के साथ हँसने और नाचने लगा था।
'कर दी सालों की ढिबरी टाइट, खा गया सालों को, उनकी तो माँ...!'

सभी अवाक गुरमीत को देखे जा रहे थे। 'कहीं इतने दिनों की चुप्पी से पागल तो नहीं हो गया?' पर अभी-अभी तो ठीक-ठाक था। हाँ, शायद आजकल गुरमीत का चुप रहना ही ठीक लगता है। वो पुराना ज़िंदादिल गुरमीत तो न जाने कहाँ खो गया है। आज जैसे उस पुराने गुरमीत की राख में से ही तो, गुरमीत की हँसी निकल कर आई है। यह गुरमीत है या कोई फ़िनिक्स?

घर के सभी लोग टेलीविजन के सामने बैठे थे। वही परिचित-सी राष्ट्रीय कार्यक्रम की धुन बजी थी और फिर समाचार की। तब तक तो गुरमीत के चेहरे पर चुप्पी मनहूसियत की तरह चिपकी हुई थी। फिर समाचार वाचक ने समाचार पढ़ा, 'आज ईराकी फ़ौज ने अचानक कुवैत पर हमला कर के उसे अपने कब्ज़े में ले लिया है' और उससे आगे का समाचार न तो गुरमीत को सुनना था और ना ही घर का कोई अन्य सदस्य सुन पाया।

जैसे उन्माद का एक दौरा ही पड़ गया था गुरमीत पर। इराक द्वारा कुवैत पर कब्ज़ा जैसे गुरमीत के जीवन की सबसे सुखद घटना बन गई थी। कहीं उसके दुःखी और अशांत मन को लगने लगा था जैसे उसने स्वयं ही कुवैत पर कब्ज़ा कर लिया हो। वह कमरे से बाहर आया। बत्ती जलाई और सहन में पड़े दो-तीन खाली डिब्बों को ठोकरें मारने लगा। 'यह साला अमीर गया, यह गया क्राउन प्रिंस स्साला कहता था - सोने की चादर की कार बनवाऊँगा। भाग गया उल्लू का पट्ठा। सब स्साले भाग लिए, ओये दारजी खुशियाँ मनाओ ओये, आज तो जी भर के शराब पियो। ओये ओन्हां दी तां माँ मर गई ओए, लै गया सौरयाँ नू, करती सालयाँ दी ढिबरी टाइट!'

हँसी का जो बाँध उसने अपनी आँसओं के सामने खड़ा किया था उसमें दरारें उभरने लगीं और थोड़ी ही देर में वह बाँध पूर्ण रूप से ध्वस्त हो गया, गुरमीत जितनी ज़ोर से हँसा था उतने ही ज़ोर से रोने लगा।
दारजी ने बेटे को सँभाला। माँ तो एक साल पहले ही पुत्तर को छोड़कर स्वर्गों में ठिकाना कर चुकी थी। गुरमीत अभी भी उन्माद में बड़बड़ाए जा रहा था, 'हुण नहीं छोड़ेगा जी, हुण कुछ नहीं बचेगा। सारे दा सारा गल्फ़ तबाह हो जाएगा। दारजी हुण ओथे कुछ नहीं बचना जे।'
दारजी को तो यह समझ नहीं आ रहा था कि वे दुःखी हों या प्रसन्न! एक ओर तो उनका पुत्र रो रहा था और दूसरी ओर प्रसन्नता इस बात की कि बेटा दो साल के बाद

बोला तो! दो वर्ष से चुप्पी का एक ऐसा आवरण गुरमीत के चेहरे पर चढ़ा हुआ था कि उसके नीचे का दर्द किसी को दिखाई ही नहीं दे पाता था। गुरमात कुछ बोले, तभी तो दर्द दिखाई दे।

दर्द भी तो उसने स्वयं ही मोल लिया था। अच्छा ख़ासा घर था, खेती-बाड़ी थी, यह सब छोड़कर गया ही क्यों वह? अधिक पाने की चाह में जो कुछ था वह भी लुट गया। मनुष्य संतुष्ट क्यों नहीं रह पाता? क्यों अधिक से अधिक पा लेना चाहता है!

गुरमीत के भी कई मित्र विदेश हो आए थे। हर एक के पास विदेश की अलग-अलग रसीली कहानियाँ थी। वहाँ की कारों की दास्तां, डिपार्टमेंट स्टोर, सोने की दुकानें, न जाने क्या-क्या, सब के सब गुरमीत को अपनी ओर आकर्षित कर रहे थे। नहीं तो गुरमीत को क्या कमी थी। कुछ अर्सा पहले ही उसने कुलवंत कौर से विवाह किया था। खेतों की मुंडेरों पर पला प्यार विवाह के बंधन में बँध गया था और फिर गर्भवती पत्नी और सभी परिवारजनों को छोड़कर गुरमीत कुवैत चला गया।

उसे तो केवल तरसेमलाल को दिखाना था कि वह भी विदेश जाने की कुव्वत रखता है। तरसेमलाल तो केवल आठवीं पास है, फिर भी देखो कैसे दुबई में नौकरी का जुगाड़ बना लिया और आज उसका घर देशी-विदेशी चीज़ों से भरा हुआ है। कौन कहेगा कि तरसेमलाल का पिता मूंगफली और गजक बेचकर गुज़ारा करता था। फिर गुरमीत के यहाँ तो वैसे ही खुशहाली है और वह तो ग्यारहवीं पास भी है! ट्रैक्टर चलाता हुआ क्या बांका जवान लगता था।

बस कर लिया निर्णय - मैं भी विदेश जाऊँगा। दारजी या बड़े भाई के समझाने का कोई असर नहीं। बस एक ही जी । हठीला तो बचपन से ही था। पहुँच गया एक ट्रैवल एजेंट के पास।
ट्रैवल एजेंट भी तो सपनों के सौदागर होते हैं। विदेश के ऐसे रंगीन सपने बेचते हैं कि सपने ख़रीदने के लिए इंसान घर-बार भी बेचने को तैयार हो जाए। इन्हीं सपनों ने गुरमीत के दिल में भी विदेश जाने की इच्छा को दीवानेपन की हद तक भर दी थी।

गाँव में गुरमीत का घर हमारे घर से कोई अधिक दूर नहीं है। अब तो उसे एक गाँव कहना भी ठीक नहीं होगा। अनाज की बड़ी-सी मंडी है और एक छोटे से शहर की लगभग सभी सुविधाएँ वहाँ मौजूद हैं। हम दोनों के पिता अच्छे मित्र हैं। मेरे पिताजी की एक डिस्पेंसरी है वहाँ। अच्छी खासी प्रेक्टिस है। गुरमीत के पिता सरदार वरयाम सिंह का नाम बड़े किसानों में लिया जाता है।

गुरमीत जब कुवैत गया था तो पहले मेरे ही पास बंबई आया था, "वीर जी, कमाल है! इतना बड़ा जहाज़ और कहते हैं एयर बस! ओए भला ऐ क्या बात होई जी? भाई जहाज़ जहाज़ है और बस बस! हमें वेवकूफ़ क्यों बनाते हैं, भराजी, मेरे तो पेट में खलबली मची रही जब तक जहाज़ बंबई में आकर उतर नहीं गया। पर वीरजी पिंड वाले (गाँव वाले) आपकी भी बहुत तरीफ़ें करते हैं जी। हर आदमी इको ही गल (बात) करता है कि डॉक्टर जेतली दा पुत्तर बिल्कुल नहीं बदलया। देखो हवाई जहाज़ चलाता है पर अकड़ बिल्कुल नहीं।"

गुरमीत धारा प्रवाह बोले जा रहा था। मेरी पत्नी तो शहर की है - ख़ास बंबई शहर की। मैं कभी गुरमीत की ओर देखता और फिर अपराधी नज़रों से पत्नी की ओर भी देख लेता। परंतु पत्नी भी गुरमीत की बातों में आनंद ले रही थी। गुरमीत की निश्चल बातें उसे अच्छी लग रही थीं।

मैं स्वयं ही गुरमीत को कुवैत छोड़ने गया था। एअरलाईन की नौकरी के कुछ तो लाभ भी होते हैं ना।
वहाँ अपने दोस्त दिनेश बतरा से मिलवा भी आया। दिनेश तो लगभग दस वर्षों से कुवैत में चार्टड आकाउंटेंट है। गाँव के गुरमीत को परदेस में भी एक जानकार तो मिल ही गया था। गुरमीत ने अपने सरल स्वभाव और व्यवहार से शीघ्र ही अपने आपको वहाँ सुव्यवस्थित भी कर लिया था। उसे रहने के लिए हिल्टन होटल के पीछे ही एक जगह मिल गई थी। उसने स्वयं ही यह स्थान पसंद किया था। कुछ गाँव के घरों जैसा घर था। आँगन के मुख्य द्वार से घर तक पहुँचने तक ही तीन मिनट तो चलना ही पड़ता था। चारों ओर ऊँची दीवार और बीच मध्य में उसका तीन कमरे का वातानुकूलित घर! जी जान से मेहनत कर रहा था गुरमीत और वहाँ जगरांव में कुलवंत ने एक फूल-सी बेटी को जन्म दिया।

लाख चाहने पर भी गुरमीत अपनी पुत्री के जन्म पर जगरांव नहीं जा पाया। विदेश में छुट्टी अपनी मर्ज़ी से तो मिलती नहीं है। इस बीच मैं भी गाँव हो आया था। कुलवंत और गुड्डी को देख आया था अब मैं ही तो एक सूत्र था - गुरमीत और उसके परिवार के बीच।

मेरा एक चक्कर कुवैत का फिर लगा। अब गुरमीत में कई बदलाव आ चुके थे। अपनी कार में मुझे लेने आया और दोपहर का खाना सीज़र्स रेस्टॉरेंट में खिलाने ले गया। उसके भीतर का बालक अभी भी ज़िंदा था, 'भराजी, इस परदेस में तो घर से कोई चिट्ठी आ जाए उसी का तो एक सहारा होता है। यह अजब देश है जी जहाँ डाकिया ही नहीं होता। बस पोस्ट बॉक्स से आपे ही चिट्ठियाँ निकाल लाओ।' गुरमीत की आँखों में एक दर्द की टीस-सी उभरी। कुलवंत की याद और बिन-देखी गुड्डी की प्यारी-सी शक्ल ज़हन में उभरी। 'आपने तो गुड्डी को देखा है ना जी? किस पर गई है? फ़ोटो से तो कुछ पता ही नहीं चलता।'
मुझे लगा जैसे गुरमीत मेरी आँखों में कुलवंत और गुड्डी की छवि देखने की चेष्टा कर रहा है।
'भराजी, मैं दिनेश जी को कम ही मिलता हूँ। बहुत पढ़े-लिखे लोग हैं, कई बार तो अपने पर ही शर्म आ जाती है। उनकी मम्मी तो बहुत ही बढ़िया औरत हैं जी। खाना खिलाए बिना आने ही नहीं देती और भाभी जी ने तो कुवैत में तहलका मचा दिया जी। कितना चंगा गातीं हैं जी। 'कुवैत टाइम्स' और 'अरब टाइम्स' दोनों में उनकी फ़ोटो छपी थी जी।'
मैं बेसाख्ता उस इंसान को देखे जा रहा था। कितना सरल, कितना प्यारा।

मेरा जब भी कुवैत जाना होता, गुरमीत के पास हर बार कोई-न-कोई नयी कहानी, नया किस्सा रहता - मुझे सुनाने के लिए। उनमें से आधी से अधिक घटनाओं में तो केवल उसके अंदर का बच्चा ही बोलता रहता था। विदेशी चमकीली वस्तुओं के प्रति एक बालक का आकर्षण स्वाभाविक ही था।

किंतु एक दिन बहुत उदास बैठा था, 'भराजी, यहाँ की पुलिस तो बहुत ही ख़राब है। इक तां निरी अनपढ़ पुलिस है जी। अंग्रेज़ी का तो इक अक्षर भी नहीं बोलणा आंदा जी। स़ो जी पकड़ लिया एक दिन हमारे एक मलयाली भाई को ओजी वोही नायर को जी। पहले चौक पर उसकी वैन की तलाशी ली जी और 'ठुल्ला' (पुलिसवाला) अपनी ही बंदूक

उसकी वैन में भूल गया। और जी अगले चौराहे पर दूसरे ठुल्ले चेकिंग कर रहे थे। बस जी वैन में बंदूक मिली। क़र दी अगले की पिटाई। वोह बिचारा दुबला-पतला घास-फूस खाणेवाला आदमी जी, शरीर में कोई ज़्यादा दम भी नहीं - फंस गया इन डंगरो के बीच जी। थाणे ले गए जी। बहुत मारा जी। वो अपणी अरबी में पूछे जा रहे थे और यह अपणा बंदा अंग्रेज़ी और मलयाली में रोए जा रहा था। रब ने बचा लिता जी ओस बंदे नूं। पता लग गया जी कि बंदूक उनके अपने ठुल्ले की है जी। पर अपणा बंदां तां अधमोया कर ता न जी। ऐथे अरबी बोली तां, भराजी, ज़रूर आणी चाही दी।'

विदेश में अकेले पड़ जाने का ख़ौफ गुरमीत की आँखों में स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहा था। सात समुद्र पार करके विदेश जाने वाली ललक थी गुरमीत में। पर एक ही समुद्र के उस पार पहुँच कर उसका दिल दहल गया था। फिर कुछ ऐसा भी हुआ कि कुछ महीनों के लिए कंप्यूटर ने कुवैत और मेरे नाम के बीच भी एक समुद्र भर दिया। और मेरा नाम कुवैत की फ्लाइटों पर दिखाई नहीं दिया। इस बीच पत्रों से ही सूचना मिली कि गुरमीत गाँव का चक्कर लगा आया है और कुलवंत और गुड्डी भी कुवैत पहुँच गए हैं। कुलवंत और गुरमीत, साथ ही कुछ महीनों की गुड्डी- एक प्यारा-सा परिवार। मैं भी यह सोच कर प्रसन्न था कि चलो दोनों का अकेलापन समाप्त हुआ। आख़िर कुलवंत भी तो इतने परिवारजनों के बीच अकेली ही थी। गुरमीत के बिना उसे किसी और से कितना सरोकार होगा। और अब वही गुरमीत उसके पास था, उसके पास-उसका अपना गुरमीत। अब कोई गोरी मेम उसके गुरमीत को उड़ा कर नहीं ले जाएगी। अरब की हूरें भी तो जादू जानती हैं - बेचारी कुलवंत!

दिनेश का फ़ोन कुवैत से आया तो मैं उस समय जापान गया हुआ था। यह नौकरी भी तो एक जगह टिक कर नहीं बैठने देती ना। दुनिया भर के शहरों का चक्कर काटता फिरता हूँ। घर में टिक कर रह पाना तो एक बहुत बड़ी उपलब्धि जैसा लगता है।
दिनेश ने कोई विशेष संदेश भी नहीं छोड़ा था। बात भी तो हमेशा संयत ढंग से ही करता है। समय ने उसे संपूर्ण रूप से परिपक्व बना दिया है। उसकी आवाज़ तो सदा ही सपाट-सी लगती है, किसी भी उत्तेजना या भावुकता से रहित। पत्नी ने उसे बता दिया था कि मैं जापान से कब लौटूँगा। और उसने भी बस इतना भर ही कहा कि 'मैं फिर फ़ोन कर लूँगा।'
'इकबाल भाई ने ईद पर सिवइयाँ भिजवाई थीं। नाराज़ हो रहे थे। कह रहे थे कि इतना बड़ा मोटर ट्रेनिंग स्कूल चला रहे हैं और हमारी भाभी हैं कि अभी तक गाड़ी भी नहीं चला पाती हैं। आपको काफ़ी डांट रहे थे कि बीवी को घर में कैद करके रखा हुआ है।' पत्नी ने सूचना दी।

इकबाल भाई को ईद-मुबारक कहने के लिए टेलीफ़ोन किया और चाय की चुस्की भरने लगा।
दिनेश का फ़ोन फिर आया। वही संयत आवाज़, 'सुरेन तुम कल ही कुवैत आ जाओ। बहुत ज़रूरी काम है। मैं एयरपोर्ट पर तुम्हारे लिए वीज़ा लेकर आ जाऊँगा। कम से कम एक हफ़्ते की छुट्टी लेकर आ जाओ। काम बहुत ज़रूरी है। गुरमीत को तुम्हारी सख़्त ज़रूरत है।'
मैं हलो-हलो कहता रहा। पर दिनेश को तो बस सूचना देनी थी और यह काम वह पहले ही कर चुका था।
पत्नी की नाराज़गी के बावजूद मैं कुवैत की ओर चल दिया। ना जाने क्या अनबूझ-सा रिश्ता बन गया था मेरे और गुरमीत के बीच।

घर से निकलने की सोच ही रहा था कि बाहर फ़ायर इंजन के चिंघाड़ने की आवाज़ आई। पता नहीं कहाँ आग लगी थी। टैक्सी में बैठा तो पास से सर्र करती हुए एँबुलैंस निकली। रास्ते में अंधेरी के श्मशान घाट के सामने से टैक्सी गुज़री तो शरीर में झुरझुरी-सी उभरी।

कुवैत पहुँचकर दिनेश मुझे सीधा अपने घर ही ले गया। गुरमीत वहीं पर था। चुप! एकदम चुप! उस हर समय चहकने वाले गुरमीत के स्थान पर जैसे किसी ने उसकी पत्थर की मूरत बनवा कर रखी दी हो। मुझे देखकर भी उस पर कोई विशेष प्रतिक्रिया नहीं हुई। उसकी आँखों में कोई पहचान या ख़ुशी नहीं उभरी। उस ज़िंदादिल गुरमीत को एक ज़िंदा लाश बना देने के लिए किसे कसूरवार ठहराया जाए - नियति को या...। और मैं कुछ भी नहीं सोच पा रहा था, केवल गुरमीत की एक ही बात, हथौड़े की तरह, बार-बार मेरे दिमाग में बजे जा रही थी, 'भराजी, यहाँ की पुलिस बड़ी ख़राब होती है जी।'

अगले ही दिन मैं और दिनेश गुरमीत को साथ लिए एक बार फिर उस रास्ते पर चल दिए जहाँ सब कुछ घटा था। गुरमीत की आँखों में फैले आतंक, ख़ालीपन और सूनापन मुझे उस दिन की तमाम घटना सुनाते दिख रहे थे। कुलवंत माँ बनने वाली थी। बेटी के बाद बेटा होने की दोनों को प्रबल आकांक्षा थी। कुलवंत पूरे दिनों से थी। उसने गुरमीत को कहा भी, 'सुणो जी, आज कम ते ना जाओ। लगदा है आज हस्पताल जाणा पयेगा।'
'ओ भागवाने डरने की क्या गल है? ये फोन रख्या है न, बस कर देणा। मैं गोली वांग भजया आऊँ। डरीदा नहीं होंदा। कल तों तां ईद दियाँ छुट्टिया नें।'
हुआ वही जिसका कुलवंत को डर था। प्रसव वेदना शुरू हो गई। थोड़ी देर तक तो वह सहती रही। फिर जब नहीं सहा गया तो उसने गुरमीत को फ़ोन किया। गुरमीत भी काफ़ी उत्तेजित था। प्रसन्नता और चिंता की मिश्रित भावनाएँ लिए वह अपनी कार की ओर भागा। गुड्डी के जन्म के समय तो वह कुलवंत से बहुत दूर था किंतु इस बार वह कुलवंत के साथ होगा, उसे स्वयं सहारा देगा। साथी ने बधाई भी दी, 'गुरमीत सिंह अब तो ईद पर बेटा होने वाला है। बहुत किस्मत वाला होगा।'

आँखों में कुलवंत, गुड्डी और होने वाले पुत्र की तस्वीरें लिए गुरमीत ने अपनी कार स्टार्ट की। घर पहुँचने की जल्दी में गुरमीत ने एक्सीलेटर पर अपने पैर का दबाव बढ़ा दिया। अभी वह 'सी-फेस' पर पहुँचा ही था कि पुलिस का सायरन सुनाई दिया। किंतु वह तो अपनी ही धुन में गाड़ी चलाए जा रहा था। कुवैत टॉवर के पास पहुँचते-पहुँचते पुलिस की गाड़ी ने उसे रुकने का इशारा किया। गुरमीत घबरा गया। न जाने क्या अपराध हुआ है उससे। ठुल्ला अरबी भाषा में चिल्लाए जा रहा था और 'स्पीडो मीटर' की ओर इशारा किए जा रहा था। काफ़ी कठिनाई से गुरमीत को समझ आया कि उसे तेज़ गाड़ी चलाने के जुर्म में पकड़ा जा रहा है। उसने अपने सारे कागज़ पुलिस के हवाले कर दिए। एकाएक विचार कौंधा कि कुलवंत की क्या हालत होगी। अपनी टूटी-फूटी अंग्रेज़ी में अरबी के शब्द मिलाकर वह पुलिस वालों को यह समझाने लगा कि उसकी पत्नी की 'डिलीवरी' होने वाली है और बच्चा किसी भी क्षण पैदा हो सकता है। किंतु उसकी बात न तो कोई सुन रहा था और ना ही किसी को समझ आ रही थी।

गुरमीत को ले जाकर कोतवाली में बंद कर दिया गया। वह गिड़गिड़ाया, उसने मिन्नतें की, वास्ते दिए। उसने हर एक पुलिस वाले से बात करने की चेष्टा की कि शायद किसी को उसकी बात समझ में आ जाए और उस पर दया करके उसे छोड़ दे।
हम तीनों दिनेश की कार में सवार कुवैत टॉवर तक पहुँच गए और गुरमीत की आँखों का दर्द जैसे कई गुणा बढ़ गया था। कुछ न कर पाने का अहसास उसे अंदर ही अंदर खाए जा रहा था।

गुरमीत को जेल में डालकर इंस्पेक्टर तो ईद की छुट्टियाँ मनाने चला गया। और गुरमीत चार दिन तक उस जेल की दीवारों से सिर टकराता रहा, चिल्लाता रहा, अपनी कुलवंत को याद करता रहा।

फिर ख़याल आया, कुलवंत के पास दिनेश जी का घर का फ़ोन नंबर तो हैं। शायद भाभी जी को फ़ोन कर लिया हो। शायद जब वह जेल से बाहर निकले तो कुलवंत और बेटा दोनों हस्पताल में सुरक्षित हों। कुलवंत बेचारी गुरमीत की प्रतीक्षा करते-करते दर्द से निढाल होने लगी थी। गाँव की लड़की परदेस में अकेली। हिम्मत करके दिनेश बतरा के घर फ़ोन किया। पर वहाँ कोई फ़ोन ही नहीं उठा रहा था। जब दर्द असह्य हो गया तो सलवार उतार कर ज़मीन पर चटाई बिछा कर लेट गई। फिर विचार आया कि अगर बच्चा ज़मीन पर गिर गया तो वापस जाकर पलंग पर लेट गई। सोचा मोमजामा बिछा लूँ। गुड्डी के जन्म के समय तो उसे कुछ सोचना ही नहीं पड़ा था। सब कुछ माँ के घर ही हुआ था। दर्द था कि बढ़ता ही जा रहा था। डेढ़ साल की गुड्डी माँ की हालत देखकर रोने लगी थी। पर माँ की कराहटें उसके बाल सुलभ मन को पीड़ित किए जा रही थीं।

कुलवंत दर्द से चीखे जा रही थी। गुरमीत को भी याद किए जा रही थी और अपनी माँ को भी। जब तक ईद का चांद पैदा हुआ कुलवंत बेहोश हो चुकी थी। उसे पता ही नहीं चला कि उसका बेटा हुआ या बेटी। बच्चा रोया या नहीं?
गुड्डी भी रोये जा रही थी। उसकी माँ का शरीर खून से लथपथ था और उसके साथ बँधा हुआ था एक छोटा-सा नन्हा मुन्ना। मुन्ना तो रोए जा रहा था। वह भी तो रक्त में सना पड़ा था। गुड्डी ने उसे हाथ लगाया तो उसे अपने हाथ में चिपचिपाहट महसूसू हुई। अब वह पूर्ण रूप से घबरा गई। अपने नन्हें-नन्हें कदमों के सहारे दरवाज़े की ओर भागी। किंतु दरवाज़े की चिटकनी तो उस नन्हीं सी गुड़िया की पहुँच से काफ़ी ऊपर थी। काफ़ी देर तक दरवाज़ा पीटती रही। मगर कोई सुन पाता तभी तो खोलता।

अब न तो माँ की कराहटें सुनाई दे रहीं थीं और ना ही मुन्ने का रोना। पूरे घर में एक भयानक-सा सन्नाटा छाया हुआ था। रोते-रोते ही गुड्डी की भूख तेज़ होने लगी। वह बेचारी फ्रिज खोलने की कोशिश करने लगी। किंतु फ्रिज था कि खुल ही नहीं रहा था। गुरमीत के सामने जेल में खाना पड़ा था। वह बेसुध कभी उस खाने की ओर देखता तो कभी दीवारों की ओर शून्य में ताकने लगता। और उधर गुड्डी पूरे घर में कुछ-न-कुछ खाने को खोज रही थी। आख़िर थक कर चूर हो गई और रोते-रोते सो गई।

गुरमीत हवालदार के पैर छूकर गिड़गिड़ा रहा था, एक टेलीफ़ोन करने की अनुमति माँग रहा था। पर 'वहाँ की पुलिस वाले तो बहुत ख़राब होते हैं ना जी।' सोते-सोते गुड्डी के पेट में मरोड़ ज़रूर उठा होगा। जाकर माँ को जगाने की कोशिश करने लगी। पर कुलवंत तो गहरी नींद में सो चुकी थी। गुड्डी के लिए एक बार फिर खाना ढूँढने और रोने का काम शुरू।

चौथे दिन गुरमीत की रिहाई हुई। वह सीधा घर पहुँचा। चाबी से बाहर से ही दरवाज़ा खोला और अंदर घुसते ही उसे नाक पर हाथ रखना पड़ा। सामने कुलवंत और बच्चे की नंगी लाशे पड़ी थीं। गुड्डी को खोजा। वह फ्रिज के पास ही पड़ी थी।
'हरामज़ादों!' वह दहाड़ा, 'मैं तुम्हें ज़िंदा नहीं छोड़ूँगा। एक-एक को मार डालूँगा सबको चुन-चुनकर मार डालूँगा।' वह चिल्लाए जा रहा था। कुलवंत, गुड्डी और मुन्ने की लाशों पर काफ़ी देर तक रोता रहा। थोड़ा सँभला और दिनेश बतरा को फ़ोन किया।

दिनेश अपने चिरपरिचित अंदाज़ में गुरमीत को हौसला दिलाता रहा।
'दिनेश जी मैं अब यहाँ नहीं रहूँगा जी। पर जाने से पहले सबका काम तमाम कर दूँगा जी। किसी हरामज़ादे को नहीं छोड़ूँगा।' रह-रहकर गुरमीत के भीतर का हिंसक पशु जाग उठता। दिनेश ने उसे बड़ी कठिनाई से संभाला। और अब हम दोनों उसे समझा रहे थे।

अपनी गृहस्थी खुद अपने हाथों से जलाकर गुरमीत वापस आ गया था, दारजी के पास। पर सब कुछ सह जाने और कुछ न कर पाने की अपनी असमर्थता के कारण गुरमीत भीतर ही भीतर घुटता रहा - एक भयानक चुप्पी ओढ़े हुए।
और यह चुप्पी आज ही टूटी थी जब वह हर्षोल्लास से चिल्ला उठा था- 'कर दी सालों की ढिबरी टाइट!'

(२४ अक्तूबर २००६ को अभिव्यक्ति में प्रकाशित)

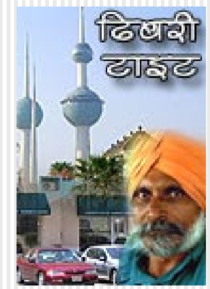

चरमराहट

इस समय भी उसे अपना नाम याद नहीं आ रहा था। उसकी आँखों में आँसू आ गए थे, लाल आँसू! वह कभी उस दूर तक फैले मलबे को दख रहा था, तो कभी सामने बने कच्चे-पक्के मन्दिर को। उस टूटे हुए मलबे में से रह-रहकर अज़ान की आवाज़ें निकलकर जैसे हवा में लहरा रही थीं। पूरे वातावरण का तनाव रह-रहकर उसकी नसों-नाड़ियों में घुसा जा रहा था। मन्दिर में से आ रही आरती की आवाज़ भी उसके तनाव को ढीला नहीं कर पा रही थी। आस-पास के लोगों के चेहरों पर अविश्वास और असुरक्षा की भावना जैसे गर्म लोहे से अंकित कर दी गई थी।

आज से लगभग तीस वर्ष पहले भी ऐसे ही बदहवास चेहरे उसने देखे थे। पल भर में घर के करीबी मित्र बेगाने हो गए थे। तब वह स्कूल में पढ़ता था। उस समय उसका एक नाम भी था - इन्द्रमोहन। स्कूल के लिए इन्द्रमोहन तिवारी। अपने नाम से उस बेहद लगाव था। अंग्रेज़ी में अपना नाम बहुत मज़े से बताता था- "आय. एम. तिवारी"-यानि कि मैं तिवारी हूँ और खिलखिलाकर हँस पड़ता था।

उस शाम भी वह खिलखिलाकर हँस रहा था कि उसके पिता ने घायल अवस्था में घर में प्रवेश किया था। उसकी माँ तो पागलों की तरह छातियाँ पीटने लगी थी। बड़े भैया ने तो लाठी उठा ली थी, "आज दो-चार को तो ढेर कर ही दूँगा।" पिता के शरीर के घाव, भाई का जुनून, सोडा वाटर की बोतलें, अल्लाह-हो-अकबर, सड़क पर बिखरा काँच, हर-हर महादेव, छुरेबाज़ी से घायल लोग, पुलिस की वर्दी, पुलिस का डंडा, पानी के फव्वारे, पुलिस की गोलियाँ, सायरन, बूटों की ठक-ठक, कर्फ़्यू सब याद है उसे ! स्कूल का बन्द होना, सब्ज़ी का ग़ायब हो जाना, चेहरों पर चिपका हुआ डर, दिमाग़ों में भरी दहशत, अपनों का बेग़ानापन, बेग़ानों का अपनापन, कुछ भी नहीं भूला है उसे। फिर उसका नाम!

उसे उस छोटी उम्र में ही उन नामों से नफ़रत हो गई थी जो नाम धर्म से संचालित होते हों। क्यों यह नाम, जातों और धर्मों का सिलसिला ख़त्म होने में नहीं आता? किसी भी बच्चे के बस में नहीं कि वह अपना नाम स्वयं रख सके। तो क्यों उसे इस दुनिया में लानेवाले कोई भी नाम दे देते हैं जो कि उमर भर के लिए उसकी पहचान बन जाता है। क्यों नहीं उस बच्चे को छोड़ देते तब तक, जब तक बड़ा होकर वह स्वयं अपने लिए इक नाम की तलाश न कर ले। उसी दिन उसने अपने पिता को कहा था, "बाबू जी, मेरा नाम बदल दीजिए!"

बाबू जी की डांट-फटकार ने उसके फ़ैसले को और भी मज़बूत बना दिया था। बड़ा होते ही, उसने अपना नाम बदलने का जो प्रण लिया था उसे पूरा करने का समय आ गया था। उसे लगा था कि नाम उसका अपना है, वह जब चाहे, जैसे चाहे अपना नाम बदल लेगा। नाम बदलना ऐसा कौन-सा मुश्किल काम है।

नाम बदलना नाम कमाने से कम मुश्किल काम नहीं है। कचहरी के चक्कर, गज़ट में नाम निकलवाना और समाचार पत्र में इश्तहार देना-यह सब करना पड़ा तब कहीं जाकर वह आई.एम.तिवारी से आई.एम.हिन्दुस्तानी बन पाया। हाँ, यही उसका नया नाम था। अब वह किसी को अपने नाम आई.एम.का अर्थ नहीं बताता था। वह चाहता था कि सब लोग उसे केवल हिन्दुस्तानी कहकर पुकारें। हिन्दुस्तानी या फिर मिस्टर हिन्दुस्तानी। उसने प्रण कर लिया था कि किसी को भी अपना धर्म नहीं बताएगा।

पहली ही टक्कर में उसके प्रण के टुकड़ों का मलबा बिखरकर रह गया था। नौकरी के लिए फ़ार्म भरते समय उसे एक कॉलम भरना था - धर्म! उसने धर्म के सामने लिख दिया था-'नास्तिक'! बहुत बार सोचा करता था कि हमारे तो अधिकतर लेखक वामपंथी हैं तो इन लोगों ने नौकरियाँ पाने के लिए धर्म के कॉलम में क्या लिखा होगा। क्या इनका वामपंथ धर्म लिखने की अनुमति देता है? या फिर यह सब ढकोसलावादी वामपंथी हैं? सबने मकान ख़रीद रखे हैं। वामपंथ तो सम्पत्ति अर्जित करने के ख़िलाफ़ है। फिर यह सब क्या गोलमाल है?

नास्तिक होने का दंड उसे भुगतना पड़ा। साक्षात्कार में उससे एक भी सवाल उसकी पढ़ाई या काबलियत के बारे में नहीं पूछा गया। पैनल के हर सदस्य को केवल एक बात में रुचि थी कि वह नास्तिक क्यों है। और क्या नास्तिक-वाद भी कोई धर्म हो सकता है?

अपने मन में घुमड़ती हुई उत्तेजना को उसने जुबान दे ही दी, "सर, धर्म हमें हज़ारों साल पीछे ले जाता है। जब हम कोई कैमरा, फ्रिज़ या कार ख़रीदते हैं तो हमारी कोशिश यही रहती है कि नए से नया मॉडल ख़रीदें। किन्तु जहाँ कहीं भी धर्म की बात आती है, तो हर धर्मवाले अपने पुरातन से पुरातन ग्रंथ की डींग हाँकने लगते हैं। आदिम लोगों द्वारा लिखी गई पिछड़ी हुई बातों के लिए हम लोग कट मरते हैं। क्या यह सही है? क्या नास्तिक होना इस स्थिति से कहीं अधिक बेहतर नहीं है? और फिर एक धर्मनिरपेक्ष देश में ऐसे सवाल का क्या औचित्य है?"

पैनल के सदस्य उसकी बातें सुनते रहे और अन्ततः वह नौकरी उसे नहीं मिली। उसे समझ आ गया कि धर्म की बाँह थामे बिना उसकी नैया पार नहीं लगनेवाली! किन्तु उसे तो किसी भी धर्म में विश्वास नहीं। तो किस धर्म की बाँह थामे? जब सभी धर्मोवाले अपने-अपने धर्म को श्रेष्ठ और दूसरे धर्मों को नीचा बताने में लगे हों तो वह किस ओर देखे?

नौकरी पाने के लिए उसने अपने जन्म-धर्म का ही हाथ थामा। अपने पासपोर्ट में भी वह हिन्दू हो गया। वह केवल हिन्दुस्तानी बना रहना चाहता था, किन्तु नौकरी ने उसे हिन्दू बनाकर ही दम लिया।

नौकरी मिली भी तो जेद्दाह में। वहाँ तो धर्म का दूसरा ही रूप था। औरतों पर पाबंदियाँ। उनके चेहरे बुर्के ओर नकाबों में ढके नज़र आते। ग़ैर-मुस्लिम औरतों को भी आबाया पहनना पड़ता था। दिन में पाँच बार नमाज़ के समय पूरा शहर जैसे जड़ हो जाता था। नमाज़ के दौरान सभी दुकानें बन्द।

वहाँ उसने विभिन्न स्तरों पर भेदभाव देखा। पहला फ़र्क तो मुस्लिम और ग़ैर-मुस्लिमों में था। मुस्लिमों में सऊदी और ग़ैर-सऊदी का फ़र्क था। अरबी और ग़ैर-अरबी मुसलमानों में अन्तर था। अमीर और गरीब देशों के मुसलमानों में अन्तर था। फिर ग़ैर-मुस्लिमों में चमड़ी का अन्तर था-यानि गोरा और काला।

जीवन में पहली बार जेद्दाह से ताएफ़ जाते हुए उसने मुसलमानों के लिए आरक्षित सड़क देखी थी। मण्डल के कमण्डल का एक और रूप! वहाँ की धार्मिक पुलिस आपका इकामा चेक करेगी। इकामा-यानि कि 'वर्क परमिट'। यदि आपका इकामा हरे रंग का है तो आप मुस्लिम हैं और उस आरक्षित सड़क पर जा सकते हैं। अन्यथा आपको एक लम्बा-सा चक्कर लगाकर अनारक्षित सड़क से ताएफ़ पहुँचना होता था। उसी सड़क पर रास्ते में उसने बिल्डिंगों का एक समूह देखा था। उसे डिपोर्टी कैम्प कहते थे। यानि के वे लोग जिन्हें सऊदी अरब से निष्कासित किया गया हो पहले उन्हें उस कैम्प में रखा जाता था। अन्ततः एक उड़ान पर चढ़ा दिया जाता था जो उन विदेशियों को उनके देश की धरती पर पहुँचा देती थी। उस कैम्प में आप तभी दाखिल हो सकते हैं यदि आप स्वयं निष्कासित या तड़ीपार हैं या फिर आप पुलिसवाले हैं।

डिपोर्टी कैम्प के बारे में सोचकर ही हिन्दुस्तानी को झुरझुरी-सी आ गई। कैसा व्यवहार होता होगा वहाँ के निवासियों के साथ?
हिन्दुस्तानी को जेद्दाह में सदा दहशत का माहौल ही दिखाई देता था। बिना किसी युद्ध-स्थिति के भी वहाँ डर का वातावरण बना रहता था। पुलिस में भी मुतव्वा यानि के 'धार्मिक पुलिस' का आतंक सर्वोपरि था। मुतव्वा से तो सऊदी नागरिक भी डरते हैं। अप्रवासी तो उन्हें देखकर घबरा ही जाते हैं।

ईराक-कुवैत लड़ाई के दिनों में तो यह डर का वातावरण और गहरा गया था। यदि उसे इतनी अच्छी पगार न मिल रही होती तो हिन्दुस्तानी कब का वापस अपने मुल्क आ गया होता। पैसा तो किसी को भी कहीं भी रोक लेता है। पैसे का चमत्कार तो हिन्दुस्तानी जेद्दाह और ताएफ़ में देख चुका था। रेत में पेड़ खड़े कर दिए गए थे।

इराक के साथ युद्ध के समय सी.एन.एन. का अतिक्रमण सऊदी पर भी हुआ। सी.एन.एन. के कार्यक्रमों का खुलापन वहाँ के कठमुल्लाओं को सहन नहीं हुआ। कुछ समय बाद स्टार टी.वी. के डिश एँटेना पर राजघराने की बिजली गिरी। डिश एँटेना को शैतान की कटोरी कहा गया और 'एड्स' की कुंजी। कठमुल्लाओं ने ऐलान कर दिया कि डिश एँटेना लगाने से एड्स हो जाएगी। हिन्दुस्तानी अपने एक मित्र के यहाँ जाकर केबल टी.वी. देख लेता था।

हिन्दुस्तानी उस समय भी धर्म की जटिलताओं को समझ नहीं पा रहा था। एक ही धर्म के दो देश आपस में लड़ते हैं। दूसरे धर्म के कई देश मिलकर एक देश को ध्वस्त करने में जुट जाते हैं। यानि कि धर्म एकता की गारंटी नहीं है! पुत्र द्वारा पिता की हत्या को धर्म नहीं रोक सकता। तो फिर धर्म के नाम पर हत्याएँ क्यों? क्या यह सब केवल आडम्बर है?

हिन्दुस्तानी का दिमाग बेलगाम घोड़े की तरह भागता जा रहा था। तर्क, वितर्क, कुतर्क सब उसके दिमाग में ज्वार-भाटा खड़ा किए जा रहे थे। "एक समय ऐसा भी तो होगा जब मनुष्य को मालूम ही नहीं होगा कि भगवान भी किसी चीज़ का नाम है। यानि कि इंसान ने भगवान का आविष्कार नहीं किया होगा। फिर किसी ने पहली बार भगवान के होने का अहसास किया होगा। उसने पहले धर्म का ऐलान किया होगा। फिर किसी दूसरे ने किसी और भगवान के होने का एहसास किया होगा। तो दूसरा धर्म उत्पन्न हो

गया होगा। इसी तरह फिर तीसरा, चौथा और पाँचवा धर्म बने होंगे।" इस सबका निष्कर्ष हिन्दुस्तानी ने यही निकाला, "जब-जब कोई भी व्यक्ति भगवान को देखता है या उससे तारतम्य बना लेता है तो सभ्यता और बँट जाती है।"

प्रकृति ने तो सभी इंसानों के जन्म और मरण का तरीका एक ही रखा है। इंसान ही क्यों उस बच्चेके पालन-पोषण से लेकर क्रियाकर्म तक भिन्न-भिन्न तरीके अपनाता है। आज जिस देश में हिन्दुस्तानी रह रहा था, वहाँ तो किसी दूसरे धर्म के लोगों को अपने इष्ट देवों की मूर्तियाँ रखने या पूजा करने का अधिकार तक नहीं दिया गया था। फिर भी लोग छुप-छुपकर पूजा करते हैं। क्या धर्म के साथ जुड़ाव इतना बल देता है कि इंसान सरकारी आदेश के विरूद्ध भी काम करने से नहीं डरता।

नास्तिक होने के चक्कर में हिन्दुस्तानी विवाह भी नहीं कर पा रहा था। अब तो लगभग पैंतीस-छत्तीस का हो गया है। पर उसे किसी धार्मिक विधि से विवाह नहीं करना। माँ-बाप को कोर्ट की शादी स्वीकार नहीं। और फिर कोर्ट-कचहरी भी तो धर्म पूछती हैं! साले कोर्ट-कचहरी भी धार्मिक हो गए हैं।

इसीलिए जेद्दाह में अकेला रहता था हिन्दुस्तानी। उसके साथियों ने उसे डरा दिया था, "बनेमलिक इलाके में कभी मत जाना। उस इलाके में सभी दो नम्बर के काम होते हैं। नकली पासपोर्ट, नकली वीज़ा, यहाँ तक कि नकली इकामा (यानि कि `वर्क परमिट') भी। हिन्दुस्तानी हैरान! इतनी सारी पुलिस, असली पुलिस! इतनी दहशत, फिर भी इतने सारे नकली काम! हिम्मतवाले लोगों की कमी तो किसी भी देश में नहीं होती है।

इन्ही दिनों हिन्दुस्तानी का एक नया दोस्त बना था। संजय - एक कम्पनी में मैनेजर था, 'अल-हमरा' इलाके में ही रहता था। उसकी पत्नी अपर्णा और बेटी चयनिका। तीनों बिना किसी द्वन्द्व के जेद्दाह में जी रहे थे। अपर्णा से अक्सर उसकी बहस हो जाया करती थी, 'मैं कहता हूँ जो मुस्लिम नहीं है वह बुर्का या आबाया क्यों पहने?" अपर्णा हँसते हुए सहज तरीके से हिन्दुस्तानी को समझाती रहती थी, "देखो भैया, हम आबाया नहीं पहनेंगे तो हमें लगता है सड़क पर सब हमें ही घूर रहे हैं। हम सड़क पर अलग ही दिखाई देते हैं। जब सभी औरतें बुर्का पहने होती हैं तो हम भी अपनेआपको आबाया में ढका हुआ महसूस करते हैं। नहीं तो लगता है पूरे कपड़े पहने बिना ही घर से निकल आए।"

हिन्दुस्तानी फिर हैरान! हिन्दुस्तानी नारी में कितनी सहनशक्ति है। फिर यहाँ तो अमरीकन और अंग्रेज़ औरतें भी आबाया पहनती हैं। क्या अमरीका और इंग्लैंड में भी यह नारियाँ बुर्का पहन लेतीं? अगर वहाँ की सरकारें भी आदेश लागू कर दें कि स्त्रियों को बुर्का पहनना ज़रूरी है, तो क्या यही स्त्रियाँ विद्रोह नहीं कर बैठेंगी? तो क्या इन्हें भी पैसे का ही लालच है?
हिन्दुस्तानी तो अपने देश में भी सिगरेट या शराब नहीं पीता था। इसलिए जेद्दाह में भी उसे कोई विशेष कठिनाई नहीं होती थी। पूजा वह घर पर भी नहीं करता था। इसकी कमी महसूस करने का तो अर्थ ही नहीं था। अब उसने कार भी ख़रीद ली थी। इसलिए उसे आने-जाने में भी दिक्कत नहीं होती थी। पेट्रोल तो लगभग मुफ़्त ही था। दस-बारह रियाल में तो टैंक पूरा भरवा लो। एक रात हिन्दुस्तानी संजय के घर ही खाना खा रहा था। रात को खाना खा चुकने के बाद संजय बोला, "चलो हुक्का पीने चलते हैं।"
"यह हुक्का पीने चलते हैं का क्या मतलब भाई? अगर हुक्का पीना ही है तो भरो हुक्का और पी डालो।"
"नहीं मेरे गोबर गणेश, आज तुम्हें दिखाते हैं कि रात को बारह बजे भी जेद्दाह में आदमी-औरतें इकट्ठे बैठकर हुक्के का मज़ा कैसे लेते हैं।"

हिन्दुस्तानी हैरान! उसके देश में कभी हुक्के की कद्र रही होगी जब राज-रजवाड़े हुआ करते थे। आज तो हुक्का पिछड़ेपन का प्रतीक बनकर रह गया है।
चल पड़ा हिन्दुस्तानी। जीवन में पहली बार सार्वजनिक 'हुक्का पान स्थान' देखने के लिए। खुली छत के नीचे, ढेरों पौधों के बीच, मुगलाई शानो-शौकत के हुक्के। किसी में कलकत्ते का तम्बाकू था तो किसी में बहरीन का। कोई पाकिस्तान से ताल्लुक रखता है तो कोई चीन से। जीवन में पहली बार शीशे का बना हुक्का देखा। सारा माहौल देखकर लग रहा था जैसे हुक्का उत्सव चल रहा हो। धीमी-धीमी आँच में हुक्के का तम्बाकू सुलग रहा था।

कुछ यों ही सुलग रहा था सवाल उसके अपने देश में। एक धर्म उसे अल्लाह का घर कह रहा था तो दूसरा उसे भगवान का जन्मस्थान। हिन्दुस्तानी को ये समझ नहीं आ रहा था कि इसमें दिक्कत कहाँ है। अगर भगवान वहाँ जन्मे हैं तो वह भगवान का घर ही तो होगा। दोनों धर्म के लोग उसे भगवान का घर मानकर भी लड़ते जा रहे हैं। क्या ऐसा कोई तरीका नहीं हो सकता की दोनों धर्मों के लोग एक ही स्थान पर आराधना कर लें। इसमें इतनी उत्तेजित होने जैसी स्थिति क्यों है? कुछ कुरुक्षेत्र जैसी स्थिति बनती जा रही थी। कोई किसी के लिए एक इंच ज़मीन भी छोड़ने को भी तैयार नहीं। इतनी दूर हिन्दुस्तान में सुलग रहे सवाल की गरमी जेद्दाह जैसे दूर-दराज शहर में भी महसूस की जा सकती थी।

और फिर उसी गर्मी का एक तेज़ भभका दिसम्बर की एक सर्द शाम में उसने महसूस किया। लगभग चार सौ साल पुराना एक ढाँचा चरमराकर मलबेका ढेर बन गया था। हिन्दुस्तानी पहली बार डर गया। उसे लगा जैसे जेद्दाह में हर मुस्लिम की आँखें उसे ही घूर रही हैं। उसे ही उस ढाँचे के गिरनेका गुनहगार ठहराया जा रहा है। परेशान तो संजय भी था। उसका डिश एँटेना तो दुबई, इंगलैंड, पाकिस्तान, बांगलादेश और भारत में जलते हुए मन्दिर भी दिखा रहा था। जेद्दाह में रह रहे हिन्दुओं में एक विचित्र-सी दहशत घर करती जा रही थी। संजय के पिता बँटवारे के भुक्तभोगी थे। उसे अपने पिता की कही हुई एक-एक बात याद आ रही थी।

अफ़वाहों का बाज़ार गर्म था। आज हिन्दुस्तानी को भी डिश एँटेना शैतान का अवतार लग रहा था। क्योंकि वो बिना रुके अयोध्या के समाचार दिए जा रहा था। कई हिन्दुओं के इकामा रद्द कर दिए गए थे। उनके पासपोर्ट पर लाल रंग की 'एग्ज़िट वीज़ा' की मोहर लगाकर उन्हें वापस भेजा जाने लगा। संजय ने हिन्दुस्तानी को आदेश दे दिया, "तुम अकेले घर से बाहर कभी नहीं जाओगे। कुछ दिनों के लिए हमारे घर रह जाओ। घर से दफ़्तर मैं तुम्हें स्वयं छोड़कर आऊँगा। बनेमलिक के इलाके में भूलकर भी मत जाना।"

औरतों के माथों से बिन्दियाँ गायब होने लगीं। बिन्दी ही तो उन्हें अन्य औरतों से अलग कर देती थी। और इसी तरह उनकी बेइज़्ज़ती का कारण भी बन जाती थी।

एक शाम तो हिन्दुस्तानी का यह पक्का विश्वास हो गया कि अयोध्या के हादसे का उत्तरदायी वह स्वयं है, संजय है, अपर्णा है और उनकी पाँच वर्ष की बेटी चयनिका है। चयनिका के स्कूल में उसका बायकॉट कर दिया गया। उसे बताया गया कि अयोध्या की मस्जिद उसने तोड़ी है, इसलिए क्लास के और बच्चे उससे बात नहीं करेंगे। रोती हुई सूजी आँखें लेकर शाम को चयनिका ने संजय से पूछ ही तो लिया, "पापा, आपने मस्जिद क्यों तोड़ी? क्लास में मेरे से कोई बात भी नहीं करता।" हिन्दुस्तानी को लगा जैसे उसके शरीर का एक-एक हिस्सा चरमराकर मलबे का ढेर बनता जा रहा है।

गर्मी अभी भी बरकरार थी। पर माहौल में थोड़ा-सा ठहराव आने लगा था। हिन्दुस्तानी का भी दम घुटने लगा था। उसे भी ताज़ी हवा की आवश्यकता थी। एक दिन शाम को दफ़्तर से निकलकर सीधा कॉरबिश की ओर निकल गया। पार्किंग लॉट में गाड़ी खड़ी की। उसने अभी थोड़ी ख़रीददारी ही की थी कि मगरिब की आज़ान हो गई। हिन्दुस्तानी ने सोचा, चलो यह सामान जाकर गाड़ी में रख लेता हूँ, बाकी ख़रीददारी नमाज़ के बाद कर लूँगा। उसने सामान जाकर गाड़ी की डिकी में रख दिया। वापस वह सूख़ की ओर चला दिया। लाऊडस्पीकर पर अरबी में कुरान शरीफ़ की आयतें सुनाई दे रही थीं।

हिन्दुस्तानी अभी कुछ कदम ही चला था कि धार्मिक पुलिस का एक ठुल्ला उसके पास आया और कड़ककर उसका इकामा माँगा। हिन्दुस्तानी बुरी तरह से घबरा गया। उसने जेब से इकामा निकाला और मुत्तव्वे के हवाले कर दिया। इकामा का रंग देखते ही मुत्तव्वे के चेहरे का रंग बदला और साथ ही साथ हिन्दुस्तानी का चेहरा सफ़ेद हो गया। मुत्तव्वे ने उसे पुलिस की गाड़ी में बैठने को कहा। हिन्दुस्तानी उसे समझाता रहा कि उसकी कार पार्किंग लॉट में खड़ी है और उसमें उसका सामान रखा है। अपना ड्राइविंग लाइसेंस और कार की चाबी दिखा-दिखाकर समझा रहा था कि उसे कार तक जाने दिया जाए। किन्तु उसके इकामा का रंग हरा नहीं था। या फिर सारा जेद्दाह ही बने मलिक बन गया था। किसी को कहीं से भी धार्मिक पुलिस गिरफ़्तार कर सकती थी।

हिन्दुस्तानी की कार 'पार्किंग लॉट' में खड़ी रही। सामान उसकी कार में पड़ा था। सामन उसके घर में भी पड़ा था-सामान, जो उसने पैसे जोड-जोड़ कर ख़रीदा था। आज वह उसी 'डिपोर्टी कैम्प' में खड़ा था, जिसे बाहर से देखकर उसके शरीर में झुरझुरी आ गई थी। संजय और अपर्णा परेशान थे। वे दोनों हिन्दुस्तानी को खोज रहे थे। आखिर कहाँ गया? हिन्दुस्तानी के दफ़्तर फ़ोन किया गया, सभी दोस्तों से पूछा गया, हस्पतालों से पूछताछ की गई। उत्तर में केवल एक दीवार ही दिखाई दे रही थी।

तीन-चार दिन के बाद हिन्दुस्तानी को एक फ़्लाइट में बैठा दिया गया। उसके पासपोर्ट पर 'एग्ज़िट' की लाल मोहर लगा दी गई यानि कि अब वह कभी भी जेद्दाह वापस नहीं आ सकता था। विमान में और भी बहुत से लोग थे जिन्हें उसी की तरह 'एग्ज़िट' कर दिया गया था। सबके चहेरों पर एक-से ही भाव थे।

अपने देश वापस पहुँच कर हिन्दुस्तानी के मन में एक इच्छा जागी। "चलो वो जगह देखकर तो आए जिसने उसके जीवन को चौपट कर दिया!" पिता के चेहरे पर जो भाव थे उनमें वह साफ पढ़ रहा था, "मैं ना कहता था, तुम्हारे तरीक़े ग़लत हैं। तुम कभी सफल नहीं हो पाओगे।"

हिन्दुस्तानी अयोध्या की ओर चल दिया। गाड़ी में ही उसे कुछ एक राजनीतिक कार्यकर्ता मिल गए। किसी ने उसका नाम पूछा। उसने अपने पुराने अन्दाज़ में जवाब दिया, "आय.एम.हिन्दुस्तानी।" कार्यकर्ता की बाँछें खिल गईं। "साहिब हम यही तो कहते हैं। हम पहले हिन्दू हैं - हिन्दुस्तानी, बाद में कुछ और। भारतीय तो हमें कई मिले पर हिन्दुस्तानी आप पहले मिले हैं। हमारी सभ्यता, हमारा कल्चर, हमारा इतिहास..." हिन्दुस्तानी का सिर चकराने लगा। आज एक बार फिर उसे अपने नाम से साम्प्रदायिकता की बू आने लगी थी।

अयोध्या के मलबे के सामने खड़ा था हिन्दुस्तानी। उसकी नौकरी की नींव इस पुरानी बिल्डिंग से कहीं अधिक कमज़ोर थी। एक ही झटके में उसकी नौकरी हवा में उड़ गई थी। सारे माहौल को देखकर हिन्दुस्तानी को महसूस हुआ कि केवल एक ढाँचा नहीं चरमाराया, बल्कि उसके साथ बहुत कुछ चरमरा गया है, लोगों का विश्वास, प्यार, भाईचारा, समाज की नींव, सब चरमरा गया है।

हिन्दुस्तानी आँखों में सारी चरमराहट भरे वापस चल पड़ा। एकाएक शोर मच गया-"बम्बई में बम्ब फटे हैं, सैंकड़ों मारे गए।"
हिन्दुस्तानी ने आकाश की ओर देखा और उसके मुँह से निकला, "यह क्या हो रहा है भगवान?" उसके शरीर ने झुरझुरी ली। यह उसके मुँह से क्या निकल गया?

(1 जून 2004 को अभिव्यक्ति में प्रकाशित)

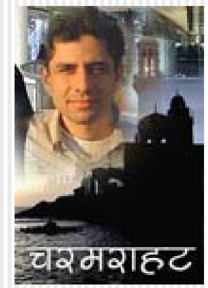

जीना यहाँ किसके लिए

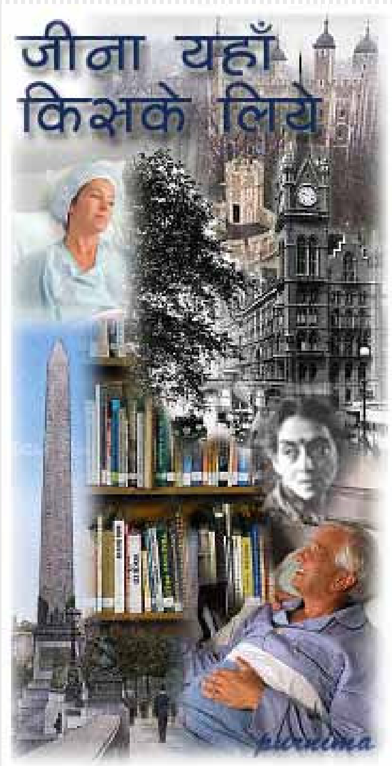

'जीतू बेटा! अब और नहीं सहा जाता। मुझे मार डाल बेटा! मुझे ' यह फुसफुसाहट तो बाऊ जी की ही लग रही है। मेरे बढ़ते कदम रुक गए हैं। सोचता हूँ कि बाऊ जी की ओर मुड़ कर देख लूँ। साहस नहीं जुटा पाता हूँ। क्या सचमुच यह बाऊ जी ने ही कहा है या यह मेरा वहम ही है? आजकल बाऊ जी फुसफुसाहट में ही बात कर पाते हैं। उनकी कही बात को समझने का प्रयास ही हम सबका काम है माँ, भैया जी, हम दोनों की पत्नियाँ और जब दीदी यहाँ हो तब। मन में कहीं यह डर भी तो है कि यदि बाऊ जी ने सचमुच ही यह सब कहा हो तब?

पिछले कुछ समय से बाऊ जी ने एक चुप्पी सी ओढ़ रखी है। एक शब्द भी तो नहीं बोलते। यदि उनसे कुछ पूछते हैं तो भी अस्फुट से स्वरों में हाँ या नहीं जैसा उत्तर ही मिलता है। हिम्मत नहीं जुटा पा रहा कि बाऊ जी की आँखों में आँखें डाल कर देख पाऊँ। न जाने उन आँखों में क्या भाव हो। जब बाऊ जी ने यह बात कही होगी, उस समय उनकी अपनी मन:स्थिति क्या रही होगी? वे क्या सोच रहे होंगे? फिर इस काम के लिए उन्होंने मुझे ही क्यों चुना? मैं तो पेशे से भी सिविल इंजीनीयर हूँ कृष्णकांत भैया चाहे दाँतों के ही सही, कम से कम डाक्टर तो हैं। आजकल तो जया दीदी भी आई हुई है और फिर माँ तो सारा समय ही उनके पास ही रहती हैं। क्या बाऊ जी यह बात बाकी सबसे पहले कर चुके हैं? मैं बात को सुन कर भी अनसुना कर जाता हूँ। "जी बाऊ जी, आपके लिए चाय ले कर आता हूँ।"

सीधा रसोईघर की ओर बढ़ जाता हूँ, बाऊ जी के लिए मसाले वाली चाय बनाता हूँ। जबसे बाऊ जी की मित्रता पटेल अंकल से हुई है, तभी से चाय में मसाले का प्रयोग करने लगे हैं। दफ़्तर में चाहे कैसी भी चाय पी लेने वाले बाऊ जी, घर में हमेशा मसाले वाली चाय ही पीते हैं। ईलिंग रोड से जब भारतीय दालें, चावल और आटा आदि मंगाये जाते हैं तो चाय मसाले का पैकेट लाना कभी नहीं भूलती माँ। कल रात से लन्दन और उसके आसपास के क्षेत्रों में भारी हिमपात हो रहा है। बाऊ जी के बारे में सोचते-सोचते कड़ाके की बर्फ़ीली ठण्ड में भी मेरे माथे पर पसीने के बूँदे दिखाई दे रही हैं।

किचन टॉवल से ही माथा पोंछ लेता हूँ। बाऊ जी को हमेशा से ही बाऊण्टी के किचन टॉवल पसन्द आते हैं। थोड़े महंगे अवश्य होते हैं किन्तु उनका काग़ज़ मजबूत और मुलायम होता है, उस पर नीले फूलों की बेल बनी रहती है। घर में वर्षों से यही किचन टॉवल ख़रीदे जाते हैं।

चाय लेकर बाऊ जी के निकट पहुँच जाता हूँ। बाऊ जी की ओर देखता हूँ। उनकी आँखों मे याचना स्पष्ट दिखाई दे रही है। जैसे मुझ से प्रार्थना कर रहे हो, क्यों नहीं मुक्ति दिला देते मुझे इस नरक से मैं अचानक एक गहरी सोच में डूब जाता हूँ। बाऊ जी ने तो कभी जान बूझ कर किसी का दिल तक नहीं दुखाया, सदा ही सबसे हँस कर बातचीत करते, जीवन्त व्यक्तित्व के स्वामी, किसी को कभी दु:ख देने के बारे में कभी सोचा ही नहीं होगा। तो फिर बाऊ जी इस नरक में जीने को क्यों अभिशप्त है?

बाऊ जी की आँखों में बसे प्रश्नों का मेरे पास कोई उत्तर नहीं हैं। पाँच फूट दस इंच कद के बाऊ जी आज बस एक व्हील चेयर पर विराजमान कृषकाया ही बन कर रह गए हैं। पेशे से चार्टर्ड अकाऊण्टेण्ट, बाऊ जी को लन्दन के आर्थिक जगत में एक विशेष दर्जा हासिल था। इस क्षेत्र में वे अकेले भारतीय, या कहा जाये कि एशियन रहे होंगे तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इंग्लैण्ड में भारतीय मूल के लोगों को हाथ के काम वाले क्षेत्र में तो आसानी से काम मिल जाया करता है,परन्तु जहाँ कहीं प्रबंधक या इस से ऊपर की बात होती है तो गोरी चमड़ी एक अनिवार्य योग्यता बन जाती है। आपसे कहीं कम पढ़े लिखे गोरे लोग वाया भटिण्डा आपसे आगे कूदते फाँदते निकल जाते हैं। उस दिन विजय भाई भी अपने रेडियो स्टेशन का रोना रो रहे थे जहाँ उनका गोरा स्टूडियो मैनेजर सैम उनका ही बॉस बना बैठा है।

किन्तु बाऊ जी का तो जलवा ही दूसरा था। मैंने तो बाऊ जी को कभी भी थ्री-पीस सूट के बिना दफ़्तर जाते नहीं देखा। भला कौन सा ऐसा सुरुचिपूर्ण रंग होगा जिस रंग का सूट बाऊ जी के पास न हो। उन्हें मार्क्स एण्ड स्पेन्सर के सेंट माईकेल के सूट ही अच्छे लगते हैं। उसी कंपनी की टाई कमीज़ें और स्वेटर भी। उस से सस्ते कपड़े उन्हें पसन्द नहीं आते और उससे महंगे कपड़े उन्हें फिजूलखर्ची लगती है। वैसे बाऊ जी को काले रंग का सूट हमेशा ही अधिक पसन्द आता है। कभी कभी तो बन्द गले की काली कमीज़ पहन लेते हैं तो टाई लगाने के झंझट से बच जाते हैं। घर में बाऊ जी सदा ही सफेद कुर्ता पजामा पहनते हैं। लखनऊ से विशेष रूप से मंगवाया करते हैं।

थियेटर में उन्हें विशेष रुचि रही है। साऊथ बैंक का इलाका उनका प्रिय इलाका है। सत्येंद्र जी ओर बाऊ जी घण्टों नाटकों पर बातें कर सकते हैं। कई बार दोनों शाम को टेम्स के किनारे साहित्य, राजनीति और नाटकों के विषय में बतियाते रहते हैं। सत्येंद्र अंकल हिन्दी साहित्य के प्रेमी हैं तो बाऊ जी अंग्रेजी और उर्दू के। किन्तु दोनों ही अंग्रेज़ी नाटक साथ-साथ देखा करते थे। जब से बाऊ जी ने व्हील चेयर का साथ अपना लिया है सत्येंद्र अंकल अकेले पड़ गए हैं। अब उन्हें नाटक अच्छे नहीं लगते। पूरा जीवन ही एक नाटक लगने लगा है।

सत्येंद्र अंकल माँ को भी छेड़ते रहते थे। 'भाभी जी इसे जरा काबू में रखा करें। गोरी मेमें भी इस पर मरती हैं। यह जब काले रंग का ओवरकोट, सिर पर फेल्ट हैट और मुँह में पाईप लगा कर चलता है तो के एन सिंह तक को कम्पलेक्स दे देता है।' बाऊ जी का तो व्यक्तित्व ही ऐसा है कि किसी को भी मिले तो अपने व्यक्तित्व की एक अमिट सी छाप छोड़ सकते हैं। हैं? या थे? बाऊ जी के जीवित रहते उनके बारे में थे कह पाना कितना कठिन कार्य है?

बाऊ जी कई बार पुराने किस्से सुनाया करते थे। 'बेटा जी, बंगे से चले थे तो पाँच पाउण्ड ले कर आए थे। तुम्हारी माँ की गोद में तो जया भी थी। यह जो सब घर में देखते हो न; यह सब तुम्हारी माँ का प्रताप है। इस भागवन्ती ने जो जिन्दगी की लड़ाई में साथ दिया है उसकी तो मिसाल भी नहीं मिल सकती। यह जो आज की पीढ़ी है न, जो बिना शादी ब्याह के लिव-इन अरेन्जमेण्ट की बात करती है, वो इस त्याग, इस मेहनत को समझ नहीं सकती। यह अन्नपूर्णा मेरे साथ न होती तो मैं कब का थक कर हार चुका होता।' माँ बस शरमा कर मुँह फेर लेती। उसे बच्चों के सामने अपनी तारीफ़ सुनना अजीब-सा लगता।

कितना अजीब-सा लग रहा है बाऊ जी को व्हील चेयर पर बैठा देख कर। कैसे एक भरा पूरा स्वस्थ शरीर प्रकृति के एक ही झटके से धम से गिरता है और कुर्सी से चिपक कर रह जाता है। कभी-कभी अच्छे मूड में होते तो मुकेश के दर्द भरे गीत गुनगुनाया करते। राज कपूर की पूरी टीम ही उन्हें प्रिय थी - शैलेंद्र, शंकर जयकिशन, मुकेश और राजकपूर - सजनवा बैरी हो गए हमार! अब तो जीवन ही बैरी हो गया है!

चाय देख कर भी बाऊ जी ने कोई प्रतिक्रिया नहीं व्यक्त की है। बस एक ओर ही देखे जा रहे हैं। चाय देख कर राज कपूर की फिल्म तीसरी कसम का डायलॉग सुनाया करते थे, 'चाह की तासीर गर्म होती है जी!' आज एकदम चुप हैं। ऐसा क्यों हो जाता है? कैसे हो जाता है?

बाऊ जी सेवानिवृत्त होने वाले थे। वे चाहते तो उनकी कम्पनी उन्हें एक्स्टेंशन दे सकती थी। परन्तु बाऊ जी माँ के साथ भारत दर्शन के लिए जाने का निर्णय लिए बैठे थे। पाकिस्तान जाने का भी तो कार्यक्रम था। झंग के उस क्षेत्र में भी जाना चाहते थे जहाँ उनकी पुश्तैनी तिकोनी हवेली थी। बाऊ जी के दादा जी के दो भाई और थे। यानी कि कुल तीन भाई, इसीलिए तिकोनी हवेली। गीली आँखों से बाऊ जी याद किया करते हैं कि कहाँ उनके दादा जी घोड़ा बाँधा करते थे, कैसे कन्धे पर बन्दूक लगी रहती थी, कुल्ले वाली पगड़ी और बड़ी-बड़ी मूँछें, स्वयं बाऊ जी के चौड़े कन्धे और ऊँचा कद, दादा जी की ही तो देन थी। बाऊ जी सेवानिवृत्ति के बाद माँ के साथ दक्षिण भारत की सैर भी करना चाहते थे। कन्या कुमारी में विवेकानंद स्मारक पर खड़े हो कर भारत की विशालता को नाप लेना चाहते थे।

उनका इरादा वैष्णोदेवी के दर्शन का भी था तो साथ ही साथ चारों धामों की यात्रा का भी कार्यक्रम था। जीवन में एक ही वस्तु की तो कमी रह गई थी। अपनी मातृभूमि को जी भर कर देख लेना। मातृभूमि भी तो बँट गई थी। जब विभाजन हुआ था, तो परिवार 'बंगा' नामक स्थान पर रहने आ गया था। शरणार्थी, अपने ही देश में शरणार्थी। पीड़ा विस्थापन की पीड़ा। अपनी मर्ज़ी से विदेश में बसने जाना एक अलग बात है परन्तु तलवार के जोर पर अपने ही देश में विस्थापित हो जाना? कभी-कभी कलम उठा लेते थे तो अपने वतन की याद में कुछ पंक्तियाँ स्वयंमेव ही उतर जाती थीं, 'करदा है मन मत्थे लांवां, मुड़ वतन दी खाक नूं, कर के सजदे सिर झुकावां, उस जमीने पाक नूं'
मैं तो पूछ ही लेता था, "बाऊ जी आप पाकिस्तान की ज़मीन को इतना क्यों याद करते हैं?"
"ओये लल्लू यह ज़मीने पाक का मतलब पाकिस्तान की जमीन नहीं है। इसका मतलब है पाक यानि कि पवित्र ज़मीन। आई बात समझ में।"

सेवानिवृत्ति के बारे में सोच कर ही बाऊ जी की आँखों में एक विशेष सी चमक आ गई थी। एक भरा पूरा जीवन सम्मानपूर्वक जी लेने का सुकून, बस दो महिने बाद बाऊ जी और माँ भारत भ्रमण पर निकलने वाले थे। बाऊ जी पहले पाकिस्तान जाना चाहते थे, तो माँ भारत। माँ का कहना था कि सारे रिश्तेदार तो भारत में ही हैं, इसलिए पहले वहाँ चलते हैं। जबकि बाऊ जी का विचार था कि पहले झंग का चक्कर लगाया जाए ताकि सारे रिश्तेदारों को अपनी मातृभूमि का आँखों देखा समाचार सुनाया जा सके। माँ का बचपन तो बंगे में ही बीता था। भला उसे झंग में क्या दिलचस्पी हो सकती थी। परन्तु माँ तो माँ ही है न। बाऊ जी की प्रत्येक इच्छा माँ के लिए हुक्म के समान हो जाती है। इसीलिए माँ भी पहले झंग चलने को तैयार हो गई थी। वे भी देखना चाहती थीं कि हीर स्याल के इलाके में ऐसा क्या है जो बाऊ जी को वहाँ जाने के लिए इतना आतुर बना रहा हैं। कहीं भी अपनी इच्छानुसार जा पाना इतना आसान होता है क्या? बाऊ जी तैयारियों में लग गए थे। अधिकतर रिश्तेदारों को एक लम्बे अर्से के पश्चात मिलने वाले थे। झंग के अपने पड़ोसियों के तो चेहरे भी खासे धुंधले पड़ चुके थे। इकबाल नाई, उनके कालेज के साथी मंजूर, परवेज और मुन्ना 'क्या वे सब वहाँ झंग में होंगे?

दुनिया कितनी बदल चुकी है। यदि वे स्वयं पाँच नदियों का जल छोड़कर टेम्स के किनारे आ बसे हैं, तो क्या उनके मित्र अभी भी वहीं के वहीं खड़े होंगे? पाकिस्तान से भी तो कितने नौजवान खाड़ी के देशों में किस्मत आजमाने निकल चुके हैं।

बढ़िया भोजन बाऊ जी की कमज़ोरी है। अच्छे खाने के लिए बाऊ जी वेम्बले से इलफर्ड तक कार चला कर जाने से भी नहीं हिचकिचाते थे। भारतीय, कॉन्टिनेंटल, चायनीज और इटेलियन खाने उन्हें एक समान प्रिय थे। किन्तु जब जब आवश्यकता होती तो वे ऑमलेट और डबल रोटी खा कर भी गुज़ारा कर लेते थे। तीन महीने बाद ही बाऊ जी पैंसठ के होने वाले थे। और मैं सोच-सोच कर हैरान होता कि यह कभी न बूढ़ा होने वाला इन्सान, सेवा निवृत्त जीवन किस प्रकार बिताएगा।

किन्तु बाऊ जी के पास पुस्तकों का एक विशाल भण्डार-सा था। बाऊ जी का सपना था कि उनके पास एक निजी पुस्तकालय हो। उनकी इस लायब्रेरी में न जाने कितने प्रकार की पुस्तकें थीं। अनगिनत पुस्तकें, बेशुमार विषय। इनमें कानून की पुस्तकें थी तो उपन्यास भी थे, महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों की जीवनियाँ थीं तो शेक्सपीयर के नाटक भी थे। उर्दू, पंजाबी, और हिन्दी की पुस्तकें भी दिखाई दे जाती थीं।

माँ तो पंजाबी और हिन्दी के उपन्यास ही पढ़ती है। अंग्रेज़ी और उर्दू का असला बाऊ जी के लिए है। बाऊ जी की प्रिय पुस्तकों में एमिली ब्रॉटी का उपन्यास 'वदरिंग हाइट्स' और चार्ल्स डिकन्स का उपन्यास 'डॉम्बे एंड सन' है। बाऊ जी उपहार में पुस्तकें ही लेना देना पसन्द करते थे। उनके अनुसार पुस्तक से बेहतर साथी मिलना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। भारत के राजनीतिक जगत पर एक उपन्यास की भी योजना बना रखी थी। उन्होंने उपन्यास का नाम भी सोच रखा था, 'जीना यहाँ -किसके लिए!'

आज उनके उपन्यास का शीर्षक उनके अपने जीवन का शीर्षक बन गया है। जिस दिन बाऊ जी को पक्षाघात हुआ उस दिन मैं घर पर ही था। पढ़ते-पढ़ते मुझे गहरी नींद आ गई थी। अधखुली पुस्तक मेरे सीने पर ही रखी थी। बाहर लन्दन की तेज़ ठण्डी हवाएँ चल रही थीं। कुछ गिरने की सी आवाज़ से मैं चौंक कर उठा। गुसलखाने में से आवाज़ें आ रही थीं, जैसे कोई सहायता के लिए फ़र्श पर प्रहार करके हमें बुलाने का प्रयास कर रहा हो।

मैं भाग कर गुसलखाने तक पहुँचा तो वहाँ माँ पहले से ही बाऊ जी को उठाने का प्रयास कर रही थी। माँ रोये जा रही थी, उसका पूरा शरीर काँप रहा था। मुझे देखते ही उसकी रुलाई जोरों से फूट पड़ी, 'जीतू पुत्तर, वेख एह की हो गया। हाय रब्बा ऐहना दी आई मैनूं आ जाए।'

मैंने माँ को बाऊ जी से अलग किया। बाऊ जी के असहाय शरीर को कन्धे पर उठाया और बिस्तर पर वापस ले आया। वे खड़े नहीं हो पा रहे थे। माँ स्थिति को और बिगाड़ रही थी क्योंकि स्वयं भी बेहोश हुए जा रही थी। मैंने एम्बुलैंस के लिए फ़ोन किया। माँ को संभाला और उन्हें अपने साथ मिला कर बाऊ जी के पैरों के तलवों की मालिश करने लगे। सर्द तलवों में गरमाहट पैदा करने की एक बेकार-सी कोशिश।

बाऊ जी ने मुझे सदा से ही अपना मित्र समझा है। बाऊ जी जब कंबल में सिर लपेटे पड़े थे, तो मैं उन्हें हौसला देने के लिए मज़ाक में कह रहा था कि वे बंगे वाली पागल नर्स जैसे दिखाई दे रहे हैं। बाऊ जी जब कभी भी बंगे के बारे में बात करते हैं तो उस पागल नर्स का ज़िक्र अवश्य हो जाता है जो के कमेटी के दफ़्तर के बाहर गुदड़ी में

लिपटी रहती। उसे एक मरीज़ से प्रेम हो गया था, जिसकी हस्पताल में ही मृत्यु हो गई। तब से वह नर्स पागलों का सा व्यवहार करने लगी। सड़क पर गिरे सिगरेट के टुकड़ों का आनंद उठाती और जून की चिलचिलाती धूप में भी कंबल ओढ़े रहती। पागल नर्स का ज़िक्र भी बाऊ जी होठों पर मुस्कुराहट नहीं ला पाया। उनकी हालत देख कर मेरे पेट में मरोड़ सा उठने लगा। यह विचार भी दिमाग को मथे जा रहा था कि कहीं बाऊ जी का अन्तिम समय तो नहीं आ पहुँचा।

बाऊ जी के मुँह से अजीब अजीब आवाज़ें निकल रही थीं। कुछ गुर्राहट, फुसफुसाहट और फुंकार का सा मिश्रण। कुछ बेमेल बेमतलब से शब्द। उनकी आँखों में बेचारगी, मजबूरी और दयनीयता के भाव साफ़ दिखाई दे रहे थे। न जाने क्यों मैंने एक बार फिर उन्हें कंबल ठीक ओढ़ाया।

बाऊ जी उस रात मरे नहीं, किन्तु उन्होंने जीना बंद कर दिया था। अब वे केवल सांस लेता हुआ, व्हील चेयर से चिपका आधा अधूरा-सा शरीर मात्र रह गए थे। उनके भीतर कुछ मर गया था। जैसे उनके भीतर की अग्नि बुझ चुकी थी। यह उनका सबसे तीव्र संघर्ष था, किन्तु उनके संघर्ष करने की शक्ति जैसे चुक-सी गई थी।

हस्पताल के डॉक्टर भी बाऊ जी की तबीयत में सुधार लाने में असफल रहे थे। बाऊ जी को अधरंग हो चुका था। अब वे स्वयं अपना कोई भी काम करने में सक्षम नहीं थे। उन्हें उठने, बैठने, नहाने, खाने सभी कामों में किसी न किसी की सहायता की आवश्यकता पड़ती थी। त्रासदी तो यह थी कि पक्षाघात के इस हमले से उनकी नज़र पर भी असर हुआ था और वे नजरें टिका कर कुछ भी पढ़ पाने में असमर्थ हो चुके थे। और सबसे गहरा असर उनके व्यक्तित्व पर हुआ था। उनके दिमाग से बीमारी से लड़ने की शक्ति छिन चुकी थी। मैं और भैया बाऊ जी की हर ज़रूरत का ध्यान रखने का प्रयास करते। किन्तु माँ, माँ को तो और कुछ सूझता ही नहीं था। कौन विश्वास करेगा कि इस औरत ने एक पूरा जीवन इंग्लैण्ड में बिता डाला है। पश्चिमी सभ्यता की हवा उसके संस्कारों को ज़रा भी तो नहीं भेद पाई। बाऊ जी की हर फुसफुसाहट भरी बात माँ को समझ में आ जाती। उनकी नज़रों के भावों को माँ आसानी से पढ़ लेती।

बाऊ जी की बुझी हुई निगहें मुझ पर टिकने का प्रयास कर रहीं हैं। लैंगलैण्ड कम्पनी का फ़ाइनेंस निर्देशक अपने ही पुत्र से कुछ माँगने की कोशिश कर रहा है। वहीं फुसफुसाहट मेरे पूरे जिस्म पर एक बार फिर रेंग गई, 'मुझे मालूम है बेटा, अब मैं बचने वाला नहीं। प्लीज किल मी माई सन। मुझ पर दया...।' कुछ शब्द उनके गले में अटक कर रह गए हैं।
'अरे बाऊ जी, आप भी कैसीं बातें करने लगे? आप बिल्कुल ठीक हो जाएँगे। मेरे हाथ की चाय पीजिए। अभी तो अपने ममी को चारों धामों के दर्शन करवाने हैं।' मेरी आवाज़ मेरे लिए ही अजनबी हुई जा रही है। आवाज़ का खोखलापन मुझे ही समझ नहीं आ रहा। बाऊ जी की आँखें दूर कहीं शून्य की ओर ताके जा रही हैं। मेरी बनाई हुई चाय मेज़ पर पड़ी ठण्डी होती जा रही हैं।

लन्दन में ठण्ड पड़ना कोई अनहोनी बात नहीं है। ऐसे सर्द देश के ठण्डे दिल वाले लोगों के बीच बाऊ जी को अपना जीवन को शुरू करना था। बाऊ जी ने बँटवारे का दर्द सहा था। परदेस के अनजान वातावरण में जीवन को स्थापित करने की चाह ! बाऊ जी में ग़ज़ब का आत्मविश्वास। बाऊ जी यह भी समझते थे कि भारत की पढ़ाई को यहाँ कोई कुछ नहीं समझता। इसलिए सुबह नौकरी और रात को पढ़ाई। इस देश की डिग्री हासिल करनी है।

जीवन में कुछ बनने का जुनून। और मुकाबला उस समाज से, जहाँ बड़े बड़े अक्षरों में लिखा होता 'कुत्ते, काले और आयरिश के लिए प्रवेश वर्जित! यह प्रवेश वर्जन किराये पर मकान लेने, रेस्टॉरण्ट में भोजन करने, कॉलेज में पढ़ाई और नौकरी के लिए आवेदन जैसे सभी क्षेत्रों पर लागू होता।

पहले-पहले तो बाऊ जी को इंग्लैण्ड के लोगों की अंग्रेज़ी समझ ही नहीं आती थी। क्योंकि यहाँ अंग्रेज़ी तो कोई बोलता ही नहीं। कोई स्कॉटिश है तो कोई यार्कशरमैन, कोई कॉकनी बोलता है तो कोई अंग्रेज़ी के नाम पर कुछ भी बोल लेता है। किन्तु बी.बी.सी. पर बोली जाने वाली अंग्रज़ी तो गिने चुने अंग्रेज़ ही बोल सकते है। इस के बावजूद सभी बाऊ जी के अंग्रेज़ी बोलने के अन्दाज़ का मज़ाक उड़ाते। ऐसे विपरीत वातावरण में बाऊ जी ने अपने जीवन की शुरुआत की थी।

संघर्ष और काम में व्यस्त बाऊ जी फिल्मों के लिए समय निकाल ही लेते थे। हिन्दी फिल्मों में वे मोतीलाल और राजकपूर के प्रशंसक थे तो अंग्रेज़ी फिल्मों में वे पॉल न्यूमेन, मार्लन ब्राण्डो के अतिरिक्त चार्लदन हेस्टन की ऐतिहासिक फिल्में पसन्द करते थे। वैसे देखने के लिए तो जॉन वेन और जेम्स बॉण्ड की फिल्में भी देख ही लेते थे।

मैं बाऊ जी को देखने हर रोज नॉर्थविक पार्क हस्पताल जाता। यद्यपि लंदन मे रहने के कारण मेरी विचारधारा भी कुछ कुछ पश्चिमी ढंग की हो गई है, फिर भी जब क्लेयर ने मेरे रोज़ाना हस्पताल जाने पर शिकायत की तो मुझे कुछ अच्छा नहीं लगा, 'जेट्स, व्हाई डू यू हैव टू सी युअर फादर एवरी डे? अवर लाईफ इज गेटिंग डिस्टर्ब्ड!' अभी तो हमारी शादी नहीं हुई, बाद में क्या होगा?'

मैं क्लेयर को समझा नहीं पा रहा था कि मेरा बाऊ जी को हस्पताल देखने जाना मेरे व्यक्तित्व का एक अंग ही है। बाऊ जी हमारे लिए क्या हैं, यह मैं उसे कैसे समझाता। बाऊ जी के बिना जीवन के विषय में सोच कर ही रीढ़ की हड्डी में सनसनी दौड़ जाती है। कई बार तो मैं हस्पताल जा कर भी बाऊ जी की ओर देखने का साहस नहीं जुटा पाता। जैसे मुझ में सच्चाई का सामना कर पाने की हिम्मत चुकती जा रही हो। फिर अचानक एक अपराध बोध मेरे मन में घर बना लेता हैं। मैं कई बार बाऊ जी से बात करने का प्रयास भी कर चुका हूँ, किन्तु सामने कोई प्रतिक्रिया ही नहीं होती। बाऊ जी का शरीर इतना दुबला हो गया है कि अब तो लगने लगा है जैसे हम उनसे न मिल कर किसी अन्जान व्यक्ति से मिल रहे हो।

दो महिने तक बाऊ जी हस्पताल में रहे। इन दो महीनों में माँ ने न जाने कितने उपवास रखे होगे। शिव चालिसा, हनुमान चालिसा तो पढ़ती ही थीं, महामृत्युंजय मंत्र का जाप प्रतिदिन १०८ बार करतीं। न जाने कितने यंत्र और तावीज अंबाले से मंगवाए। जब तक हस्पताल वाले बाहर निकलने को न कहते बाऊ जी के पास ही रहतीं। बाऊ जी वापस घर आए तो नीचे के एक कमरे को ही उनका बेडरूम बनाना पड़ा। लंदन में बेडरूम और बाथरूम तो पहली मंज़िल पर होते हैं न। बाऊ जी की व्हील चेयर अन्दर बाहर आसानी से लाई जा सके, इसलिए मुख्य द्वार पर रैम्प भी लगवाने पड़े। बाऊ जी की आवाज़ कुछ हद तक वापस आ गई और शारीरिक हरकत भी किन्तु उनके मस्तिष्क को जो क्षति पहुँच चुकी थी, उसका अन्दाज हम पहले से नहीं लगा पाए थे।

एक हँसता खेलता चार्टर्ड एकाउंटेण्ट जो बड़े आदमी की बड़ी से बड़ी समस्याएँ चुटकियों में हल कर सकता था, आज निरीह, असहाय और लाचार बना बैठा था। आज कोई ठहाके नहीं, पाईप नहीं, और ग्लैनफ़िडिश भी नहीं। मित्र की हालत का असर सत्येंद्र अंकल पर भी हुआ - बाई पास सर्जरी!

अब बाऊ जी समझ चुके थे कि स्थितियों पर उनका नियंत्रण नहीं रहा। इस बात की झल्लाहट भी उनमें दिखाई देती थी - नहाना, कपड़े बदलना, बाल बनाना, नाख़ून काटना, खाना खाना यानि कि हर बात के लिए वे किसी न किसी पर निर्भर थे - विशेषकर माँ पर। और यही उन्हे कचोटता था।

बाऊ जी के चेहरे और व्यक्तित्व में इतना अधिक परिवर्तन आता जा रहा था कि उन्हें पहचानना और भी कठिन होता जा रहा था। एक विचित्र-सा अजनबीपन पैठ रहा था हमारे सम्बन्धों के बीच! सभी विषयों पर बातचीत बन्द हो गई थी। कैसे वे फिल्मों की बातें किया करते थे, अनगिनत पुस्तकों से उदाहरण देते थे जिन्हें कि उन्होंने रात-रात भर जाग कर पढ़ा था। भारतीय और ब्रिटिश राजनीति पर घड़ल्ले से बहस किया करते थे। जय प्रकाश नारायण की बहुत प्रशंसा किया करते थे। वे उन्हें नेहरू जी की ही तरह स्वप्नदृष्टा लगते थे। अब एक ही झटके में सब समाप्त। दिलीप कुमार की नाटकीय अदाकारी, मोतीलाल का सहज अभिनय और राजकपूर का निर्देशन, अब यह सभी विषय बाऊ जी के ज्ञान से वंचित रह जाएँगे। हस्पताल से वापस आने के बाद से वे अपने ही नाम की प्रतिछाया बन कर रह गए थे।

मेरे दिमाग में हर समय बाऊ जी के कहे शब्द बजते रहते हैं। 'मुझे मार डाल बेटा। अब और नहीं सहा जाता। वे माँ के सामने ऐसे शब्द नहीं बोलते। मैं रातों को नींद से हड़बड़ा कर उठ बैठता हूँ दुःस्वप्न मुझे परेशान किए रहते हैं। कभी मुझे महसूस होता है कि मैंने बाऊ जी के चेहरे पर तकिया रख कर उनका दम घोंट दिया है तो कभी उन्हें मुक्ति दिलवाने के लिए बेहिसाब नींद की गोलियाँ खिला देता हूँ। मुझे समझ ही नहीं आता कि मैं करूँ क्या। जो संस्कार मुझे माँ और बाऊ जी से मिले हैं उनके रहते तो मैं किसी को कष्ट तक पहुँचाने के बारे में नहीं सोच सकता, किसी को मारना तो दर किनार रहा। फिर भला मैं अपने ही पिता की जान कैसे ले सकता हूँ? मैं यह तो कर सकता हूँ कि कोई मौत की कगार पर खड़ा हो तो उसे बचाने के लिए जी जान से जुट जाऊँ, किन्तु किसी को मौत देना।

मैं समझ रहा था कि बाऊ जी का दर्द शारीरिक होने के मुकाबले मानसिक कहीं अधिक है। किन्तु मैं उनकी बात कैसे मान लेता? युथेनेसिया यानि कि रहम या दया वाली मौत के विरुद्व तो बाऊ जी स्वयं कितनी बार पुरज़ोर दलीलें दे चुके थे, 'मैं कहता हूँ आप भगवान कैसे बन सकते हैं। जब जीवन देना आपके बस में नहीं तो आप जीवन ले कैसे सकते हैं। डाक्टरों को क्या मालूम कि मरीज़ कब ठीक हो जाए। क्या हमने चमत्कार होते स्वयं नहीं देखे?' डाइनिंग टेबल पर बाऊ जी इस विषय पर कितनी बार अपने विचार प्रकट कर चुके थे। यहीं वह समय होता था जब बाऊ जी फ़ांसी की सजा, पुलिस को हथियार दिए जाना और ब्रिटेन और अमरीका के सम्बन्धों पर बाऊ जी हमसे बात किया करते थे।

धीरे-धीरे बाऊ जी यह बात समझते जा रहे थे कि मैं उनकी बात मानने वाला नहीं हूँ। किन्तु उन्हें यह बात समझ नहीं आ रही थी कि उनका बार बार मुझे यह बात कहना कितना विचलित कर रहा है भीतर ही भीतर मैं कितनी बार मर रहा हूँ। उन्हें मारने का अर्थ मेरे लिए आत्महत्या ही तो है। उनके भीतर जो मैं जिन्दा हूँ, उसकी हत्या भला मैं किस प्रकार कर सकता हूँ?

बाऊ जी ने निर्णय ले लिया था। उन्हें सदा ही स्थितियाँ अपने नियंत्रण मे लेना सही लगता था। अब भी उन्होंने ठीक वैसा ही किया। उन्होंने बिना किसी से कुछ कहे खाना पीना छोड़ दिया। उनका शरीर बस एक कंकाल बनता जा रहा था। वे बिना हिले डुले बिस्तर पर पड़े रहते, घंटों शून्य में ताकते रहते। उनकी ओर देखने भर से ही मन में दर्द होने लगता था।

बाऊ जी के इस सत्याग्रह ने घर में सब की पीड़ा और तकलीफें इतनी अधिक बढ़ा दी थीं कि परिवार का प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को दोषी महसूस करने लगा था। मेरे मन में कभी कभी यह चाहत भी सिर उठती कि किसी भी तरह घर का माहौल फिर से नॉर्मल हो जाए। कई बार बाऊ जी पर क्रोध भी आता कि वे ऐसा क्यों कर रहे हैं। दुनियाँ में कितने लोगों को पक्षाघात होता है। वे सब जीवन के साथ किस आसानी से समझौता कर लेते हैं। किन्तु बाऊ जी ने तो। अचानक मैं स्वयं ही अपराधबोध से ग्रस्त हो जाता, शर्म से अपना सिर छुपा लेता, दुःखी हो जाता। यदि मेरा यह हाल था तो माँ किन हालात से गुज़र रहीं होंगी।

अब तो मैं भी मन ही मन भगवान से प्रार्थना करने लगा था कि किसी भी तरह बाऊ जी के जीवन का अंत हो जाये। मैं उन्हें इस प्रकार घिसटते, तड़पते नहीं देख सकता था। मुझे अहसास हो चुका था कि बाऊ जी की तबीयत में अब कोई सुधार नहीं आने वाला है। मैं सुबह जब नींद से जागता तो मन के किसी कोने में यह उम्मीद-सी लगी होती कि समाचार मिलेगा कि बाऊ जी चल बसे।

चार वर्ष बीत गए इसी समाचार की प्रतीक्षा में। इस बीच क्लेयर मेरी पत्नी बन चुकी थी। बाऊ जी मृत्यु की प्रतीक्षा में पड़े थे और मेरे लिए निर्णय लेने की घड़ी आ पहुँची थी। मुझे जीवन और मृत्यु में से एक का चुनाव करना था। किन्तु यह निर्णय बाऊ जी के विषय में नहीं था। मेरी पत्नी क्लेयर माँ बनने वाली थी। बाऊ जी के मन में भी एक बार फिर से जीने की तरंग जाग उठी थी। वे मेरे बच्चे को गोद में लेना चाहते थे। पुरानी कहावत है कि असल से सूद अधिक प्यारा होता है। वे भी अपने सूद को देख लेना चाहते थे, महसूस कर लेना चाहते। उस रात उन्होंने मुझे बुला कर कहा था, 'जीतू मैं कुछ दिन और जीना चाहता हूँ यार। तेरा बेटा देख कर मरूँ तो चैन से मरूँगा।' मुझे पल भर के लिए महसूस हुआ कि बाऊ जी में जिजीविषा एक बार फिर जाग गई है। मैं चहका था, 'बाऊ जी जुड़वाँ होने वाले हैं। जुड़वाँ। एक दादी का एक दादा का।'

एक हल्की फीकी-सी मुस्कान ! क्लेयर को अभी छठवाँ महिना ही चल रहा था। उसे जचगी के दर्द होने लगे। डाक्टरों का कहना था कि डिलिवरी तत्काल करना आवश्यक था क्योंकि गर्भाशय में ही बच्चों की मृत्यु हो जाने का भय था। सिजीरियन ऑपरेशन ही एकमात्र विकल्प था। अल्ट्रासाऊण्ड के माध्यम से यह पता चलते ही कि जुड़वाँ पुत्र होनेवाले हैं हमने तो उनके नाम भी रख लिए थे - भारतीय नाम हरीश और आनंद, किन्तु क्लेयर के लिए हैरी और एण्डी। अपने मित्रों में तो वे इन्हीं नामों से जाने जाते।

किन्तु डाक्टरों के एक प्रश्न ने हमारे सामने एक बिकट स्थिति पैदा कर दी, 'देखिये, मिस्टर मेहरा, फैसला आप को करना है। इन बच्चों के जीवित रहने के कोई विशेष आसार नहीं हैं। फिर भी हम कोशिश करके देख सकते हैं। बात यह है कि यह दोनों जितना समय भी जीवित रहेंगे, सुइयों और दवाइयों के बल पर ही। यदि हम कुछ भी न करने का निर्णय ले लें, तो हम इन दोनों को मुक्ति दे सकते हैं।' सूजन रो दी। वह किसी भी तरह अपने बच्चों को बचा लेना चाहती थी।

मेरे सामने एक बार फिर से जीवन और मृत्यु का प्रश्न आ खड़ा हुआ था। बाऊ जी की याचना भरी आँखे मुझ में दहशत पैदा किए जा रही थीं। लगा जैसे बाऊ जी ही एक बार फिर मेरे कानों में फुसफुसा रहें हों, 'मुझे मार डाल बेटा। मुझे मार डाल' और मैं कुछ भी सोच पाने में असमर्थ महसूस कर रहा था। जो काम मैं अपने बाऊ जी के लिए नहीं कर पाया क्या अपने होनेवाले बच्चों के लिए कर पाऊँगा। क्या उन नन्हीं उँगलियों को उन गुलाबी होठों को उन कमज़ोर बालकों को मुक्ति दिलाना मेरे लिए संभव हो पाएगा? समस्या कठिन है। हल कहाँ से ढूँढू?

क्लेयर की ओर एक बार फिर देखा, नज़रों ही नज़रों में कुछ समझाया। किन्तु क्लेयर आज जिस स्थिति में थी उसे मैं भली-भाँति समझ रहा था। क्लेयर के हाँ करने का तो प्रश्न ही नहीं था। मैंने स्वयं ही डाक्टर को अपना निर्णय सुना दिया। हैरी और एण्डी अब इंजेक्शनों का दुःख नहीं सहेंगे उन्हें मुक्ति अवश्य मिलेगी।

बाऊ जी के लिए यह समाचार जानलेवा सिद्ध हुआ। उनकी मुक्ति भी हैरी और एण्डी के साथ ही साथ हो गई।
मेरे मन में विचित्र-सा अपराध बोध घर करने लगा था। मैं पाँच वर्ष तक अपने बाऊ जी को नरक में घिसटता देखता रहा, उनकी मुक्ति के लिए कुछ नहीं कर पाया। किन्तु अपने उन पुत्रों के लिए मैंने इतनी जल्दी निर्णय कैसे ले लिया। क्या मैं अपने बाऊ जी को अपने अजन्मे पुत्रों से कम प्यार करता था?

(15 मई 2001 को अभिव्यक्ति में प्रकाशित)

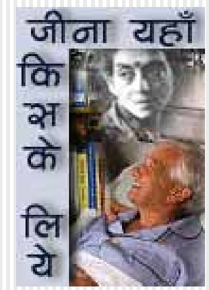

देह की कीमत

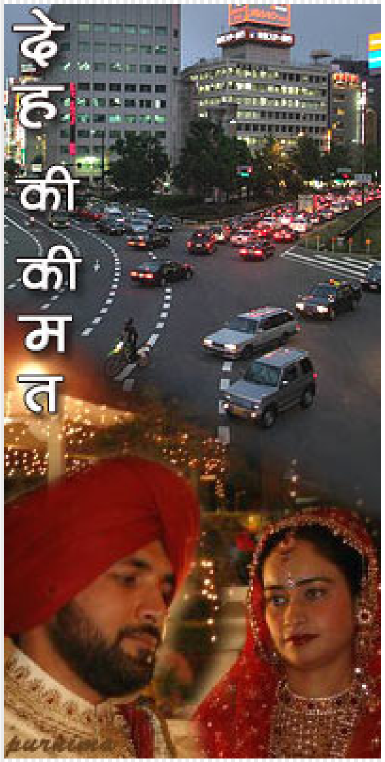

परमजीत कौर अपने कमरे में गुमसुम बैठी थी। उसकी आँखें सामने पड़े कलश पर टिकी हुई थीं। उसका दो वर्षीय पुत्र गहरी नींद सो रहा था। कमरे की निस्तब्धता को उसके पुत्र की ज़ुकाम से बंद नाक की साँस की आवाज़ ही भंग कर रही थी। कमरे का टेलिविजन भी चुप था, टेलिफ़ोन भी गला बंद किए कोने में पड़ा था। किंतु यह चुप्पी किसी शांति का प्रतीक नहीं थी। परमजीत के मन में तूफ़ान की लहरें भयंकर शोर मचा रही थीं। और फरीदाबाद के सेक्टर पंद्रह के बाहर एक कुत्ता ज़ोर से रो रहा था।

रोना तो अब शायद पम्मी के जीवन का अभिन्न अंग बनने वाला था। पम्मी...। हाँ, हरदीप उसे इसी नाम से तो पुकारा करता था। पम्मी और हरदीप एक-दूसरे के जीवन का अटूट हिस्सा बन चुके थे। पम्मी का उजला खिला रंग रूप, बेदाग मुलायम चेहरा और अंग्रेज़ी (आनर्स) तक की पढ़ाई, यही सब गुण तो उसे फरीदाबाद के सेक्टर अट्ठारह से सेक्टर पंद्रह तक ले आए थे। हरदीप ने पम्मी को अपने किसी रिश्तेदार के विवाह में देख लिया था। बस! तभी से बीजी के पीछे पड़ गया था, 'बीजी, जे ब्याह करना है, तो बस उस लाल सूट वाली से।'

'लाल सूट वाली दा नाम तां पुछ लैंदा!' बीजी को अपने पुत्र की व्यग्रता कहीं अच्छी भी लगी थी, उनका लाडला बेटा जापान जाने की तैयारी में है। यदि, वहाँ से कोई चपटी नाक वाली जापानी पत्नी उठा लाया तो बीजी का क्या होगा! बीजी लग गईं लाल सूट वाली की तलाश में।

तलाश जाकर पूरी हुई सेक्टर अट्ठारह में। बीजी के मन में थोड़ा झटका लगा। पुत्तर की पसंद टिकी भी तो जाकर सेक्टर अट्ठारह में। भला पंद्रह सेक्टर वाले अट्ठारह वालों के घर रिश्ता लेकर जाएँ तो कैसे! बात बड़ी सीधी-सी है - सेक्टर पंद्रह है कोठियों और बंगलों वाला सेक्टर... हर बंगले में कम से कम एक कार तो है ही और सेक्टर अट्ठारह में हैं हाउसिंग बोर्ड के दो कमरों वाले मकान। बीजी सोच में पड़ गईं।

बीजी सोचते-सोचते ही सेक्टर अट्ठारह में पहुँच गईं। भला-सा घर! सीधे सादे लोग! छोटा-सा परिवार! सरदार वरयाम सिंह, पत्नी सुरजीत कौर, परमजीत और छोटा भाई सुखविंदर! बस इतना ही परिवार। दीवार पर गुरु नानक देव और गुरु गोबिंद सिंह के चित्र और लाल कपड़े में लिपटा गुरु ग्रंथ साहिब परिवार के आस्तिक होने का ऐलान कर रहे थे। बाहर गुरुद्वारे के लाउडस्पीकर पर आवाज़ आ रही थी, 'श्लोक महल्ला पंजवां... अपने सेवक की आपे राखे... आपे नाम जपावे... जहाँ-जहाँ काज किरत सेवक की।' बीजी को लगा ऐसे समय में यह श्लोक उनकी सफलता का ऐलान है। परमजीत उस दिन कालेज नहीं गई थी। उसे हल्का-सा बुखार था।

बुखार में जो लड़की इतनी सुंदर लग सकती है, वो सजने-सँवरने के बाद क्या लगेगी! वरयाम सिंह और सुरजीत कौर प्रसन्न कि उनकी बेटी विवाह के बाद नज़दीक भी रहेगी और रहेगी भी सेक्टर पंद्रह में। होने वाला जमाई जापान में काम करता है। माता-पिता के लिए इतना ही काफ़ी था। उन्हें हाँ करने में देर ही कितनी लगनी थी। वे दोनों भी कन्यादान कर स्वर्ग में अपना स्थान पक्का करने की योजना बनाने लगे।

परमजीत को तो कन्यादान शब्द से ही वितृष्णा हो उठती थी। दान वाली वस्तु बनना उसे गवारा नहीं था। इसीलिए विवाह कचहरी में करना चाहती थी। परंतु शादी विवाह के मामले में बेटियों को नहीं बोलना चाहिए। संभवत: इसीलिए परमजीत बोलना चाह कर भी कुछ नहीं बोल पाई। और 'लाल सूट वाली कुड़ी' लांवा फेरे लेकर, ज्ञानियों के श्लोकों पर सवार होकर सेक्टर अट्ठारह से पंद्रह के बीच की सड़क लाँघ गई। रास्ते में भीम बाग और जैन मंदिर उसके विवाह के मूक साक्षी बने खड़े थे।

साक्षी बनने के लिए बिजली तैयार नहीं थी। इसीलिए तो जब घर पहुँचे तो बत्ती नदारद थी। फरीदाबाद में बिजली तो हर रोज़ गुल हो जाती है, दिन में लगभग चार से छह घंटे तो बत्ती के बिना बिताने ही पड़ते हैं। 'साढ्ढे घर बिजली दी की ज़रूरत है जी, साढ्ढी तां बहू ही ऐनी चमकीली है कि सारा घर उजला होया पाया है।' बीजी अपनी खुशी छिपा नहीं पा रही थीं।

उजली बहू तो आज भी घर में है। पर आज घर में गहरा काला अंधेरा छाया हुआ है। बीजी अपने कमरे में रो-रोकर आँखें सुजा रही हैं। तो हरदीप के दोनों भाई अपनी भाभी को पत्थर दिल करार दे रहे हैं। चुप हैं तो केवल दार जी!
दार जी ने सदा ही पम्मी को पिता का-सा प्यार दिया है। वास्तव में उनका व्यवहार सरदार वरयाम सिंह के साथ समधियों जैसा रहा ही नहीं, दोनों ऐसे दोस्त बन गए, जैसे वर्षों से एक-दूसरे को जानते हों। निकले भी तो पड़ोसी ही। सरदार वरयाम सिंह मौड़ मंडी के रहने वाले थे और दार जी का बचपन मानसा में बीता था। भला मानसा और मौड़ में दूरी ही कितनी थी! बस इतनी ही दूरी फरीदाबाद में भी थी। किंतु हरदीप तो बहुत दूर चला गया था। हरदीप को दूर जाने का शौक भी बचपन से ही था। उसके ताऊजी जब से आस्ट्रेलिया जाकर बस गए थे तब से हरदीप के मन में बस एक ही साध थी कि कहीं विदेश में जाकर ही बसना है। पर पढ़ाई-लिखाई में तो उसका मन लगता ही नहीं था। बस, किसी तरह दार जी के रसूख से हर वर्ष पास हो जाता था। परंतु हायर सेकंडरी में तो बोर्ड की परीक्षा होती है। वहाँ तो रसूख नहीं चलता है ना! बस, उसी साल थोड़ी मेहनत की थी। बी.ए. की डिग्री तो कुकुरमुत्तों की तरह उगे किसी 'पब्लिक कालेज' से ख़रीद ली गई थी।

ख़रीदने को तो दार जी नौकरी भी ख़रीद देते। परंतु हरदीप को तो न नौकरी करनी थी और न ही दार जी के व्यापार में हाथ बँटाना था, उसे तो किसी भी तरह विदेश जाना था...बस... वहाँ जाना था... पैसा कमाना था और ऐश की ज़िंदगी जीनी थी। उन्हीं दिनों एअरलाइन में उड़ान परिचारकों की नौकरी निकली थी। विदेश की सैर का खुला न्यौता! हरदीप को कहीं से भनक लग गई कि पगड़ी-धारक सिखों को यह नौकरी नहीं मिल सकती... बस! कर आया केशों का अंतिम संस्कार! कर दिया दार जी की भावनाओं का खून! हो गई नौकरी की तैयारी!

पर क्या नौकरी ऐसे मिलती है? लिखित परीक्षा देनी होती है, पास करनी पड़ती है... साक्षात्कार! या फिर तगड़ी सिफ़ारिश। हरदीप के पास तो कोई भी अस्त्र-शस्त्र नहीं था इसलिए कोई भी बाधा लाँघ नहीं पाया। पहली ही सीढ़ी से फिसल कर गिर पड़ा।

आज पम्मी न जाने कितनी सीढ़ियों से नीचे गिर पड़ी है। उसमें उठकर बैठने की ना तो ताक़त ही है और ना ही हिम्मत! ऐसा कैसे हो जाता है? एक ही घटना आप के समूचे जीवन को कैसे तहस-नहस कर देती है। जिजीविषा बहुत निर्दयी वस्तु होती है। इंसान को जीवित रहने के लिए मजबूर करती रहती है। वरना क्या आज पम्मी के पास जीने का कोई बहाना है। उसके जीवन पर छाया अंधेरा तो और भी विकराल होता जा रहा है।

अंधेरे में जीने का अभ्यास है पम्मी को! तभी तो बीजी की कटु बातें और देवरों का निर्दयी व्यवहार भी उस अंधेरे को चीर कर उसे क्षत-विक्षत नहीं कर पा रहे हैं। 'मैं तां पहले ही कहन्दी सी, कुड़ी मंगली है। ऐथे ब्याह नहीं करणा! मेरी तां कदी कोई सुणदा ही नहीं!' बीजी का विलाप जारी था।
'ना, उसके माँ पयो ने कुछ छुपाया था क्या? साफ़-साफ़ बोल दिता था कि हमारी कुड़ी तां मंगली है। ओस वक्त तो तेरे काके ने ही कह दिया था कि वोह इन बातों को माणता ही नहीं। फिर आज किस बात की शिकैत है?'
'मेरा तां पुत्तर चला गया! तुसी मैंनूं ही लेक्चर दे रहे हो?'
'ओये जे तेरा पुत्तर गया है तो, ओस अभागन का भी तो खसम चला गया! ओय सोच भागवाने, विधवा का जीवन किसी को चंगा लगदा है?'
'हाय ओये, कुड़ी न निकली, डायण निकली, लोको! माँ पयो ने अपनी डायण हमारे हवाले कर दिती...हुण मैं की करां जी?'
'करणा क्या है, बस अपणी बहु नू सँभालो! ....हरदीप की निशाणी है उसदे पास... निक्के बच्चे नूं उसने संभालणा है।...मैं तो कहता हूँ...!' और दार जी चुप्प हो गए।
'की कहंदे हो...। कुछ बोलो तां सही!'
'मैं तो कहता हूँ... असी आप ही थोड़े वकत के बाद कुड़ी दा दूसरा ब्याह कर दें। कुड़ी दा जीवन संवर जाएगा...ते साड़ी इज़्ज़त रह जाएगी।'
'हाय ओये रब्बा! कैसा बाप है एह बंदा! ...अभी पुत्तर नूं मेरे हफ्ता नहीं होया, ते बहू दे दूजे ब्याह दी गल करदा पया है! ...हाय ओये!'
'अपणे बैण बस कर! पम्मी की तरफ़ ध्यान दे।' दार जी का धैर्य चुकता जा रहा था।

पम्मी अब भी उस कलश को ताके जा रही है जो मरा है, उसकी राख इसी कलश में पड़ी है। मरने वाला मरा भी तो जापान जाकर। 'काका, जा पान लै आ !' बीजी की बात सुनकर पम्मी की हँसी छूट गई थी। भला उनका काका पूरा जापान कैसे ला सकता है! किंतु आज तो उसी जापान ने उनके काके को और पम्मी के हरदीप को पूरे का पूरा निगल लिया था।
जापान जाने की हठ भी तो हरदीप की ही थी। कोई पक्की नौकरी तो वहाँ थी नहीं। फिर भला क्या आवश्यकता थी वहाँ जाने की। विवाह से पहले पम्मी को यह कहाँ बताया गया था कि काका अवैध तरीके से जापान जाता है और दो-तीन वर्ष वहाँ बिताकर, जेबें भरकर, वापस आ जाता है।
'क्यों जी, आप ऐसा 'इल-लीगल' काम क्यों करते हैं। अगर कभी पकड़े गए तो?'
'ओय झलिल्ये, जब तक रिस्क नहीं लेंगे, तो यह ऐशो आराम के सामान कैसे जुटाएँगे। यह सारी इम्पोर्टड चीजें कहाँ से आएँगी?'
'मुझे इन चीज़ों में कोई दिलचस्पी नहीं जी! आप बस यहीं रहिए जी! हम बस अपनी दाल-रोटी में ही खुश हैं।'
'तो, आदरणीय पम्मी जी, तुसी दाल-रोटी विच खुश रहो। ते बस आह ही खांदे रहो! सरदार हरदीप सिंह दाल-रोटी में खुश रहने के लिए नहीं पैदा हुआ!'
'नहीं जी, मैं अब आपको वहाँ नहीं जाने दूँगी। आप एक बार तो वहाँ हो ही आए हैं। शौक तो पूरा हो ही चुका है, फिर दोबारा जाने की क्या ज़रूरत है? यहाँ दार जी का अच्छा-

भला बिजनेस है... वही सँभालिए।'

'ओये तुम जनानियों को मर्दों की बातों में दखल नहीं देना चाहिए। तुम अपना घर सँभालो। बस पैसे कमाना हम मर्दों का काम है। वोह हमारे ऊपर ही छोड़ दो।'

बुरी तरह से आहत हो गई थी पम्मी! उसने अंग्रेज़ी साहित्य में पढ़ाई इसलिए नहीं की थी, कि घर के आँगन में गाय की तरह बँधी खड़ी रहे और पति अपनी मनमानी करता रहे। पम्मी अपने पति के हर काम में बराबर की भागीदार होना चाहती थी...उसे अपने काम में भागीदार बनाना चाहती थी। उसकी ताक़त बनना चाहती थी पर काका तो दार जी और बीजी की कमज़ोरी था, वोह भला एक कमज़ोरी की ताक़त कैसे बन पाती?

ताक़त की तो पम्मी में कोई कमी नहीं... उसका चरित्र इतना शक्तिशाली है कि वह किसी भी मुसीबत का सामना करने में सक्षम है। परंतु जब से हरदीप ने उसे बताया है कि वह किस तरह अवैध तरीके से टोकियो पहुँचता है, तो उसकी शक्ति भी जवाब देने लगी थी।

'बड़ी सीधी-सी जुगत है पम्मी! तीन वर्ष पहले भी चल गई थी; अब की बार भी चल जाएगी। अपना एजेंट हमें दिल्ली से बैंकाक तो अपनी देसी एअरलाइन से भेजेगा। वहाँ से सिडनी का टिकट बनवाएगा, वाया टोकियो। टोकियो में आठ घंटे का ट्रांज़िट हॉल्ट होगा... बस, उसी आठ घंटे में अपना एजेंट हमें एअरपोर्ट से बाहर निकाल कर ले जाएगा। मैं पहुँच जाऊँगा टोकियो में अपने अड्डे पर!'

'मुझे तो डर लगता है जी!'

'ओये, मैं वहाँ कोई अकेला थोड़े ही होऊँगा। कितने लड़के पाकिस्तान से होते हैं, कितने बंगलादेशी, और कितने अपने पंजाबी भाई। यही नहीं फिलीपीन और कोरिया वाले भी 'इल-लीगल' होते हैं।'

'पर होते तो 'इल-लीगल' ही हैं न जी!'

'ओ तू यहाँ कानूनी और ग़ैर-कानूनी के चक्कर में पड़ी है और मुझे अपनी ज़िंदगी बनाने की फिक्र है।'

पम्मी को तो कुछ समझ ही नहीं आ रहा था। उसके पल्ले तो यह बात ही नहीं पड़ रही थी कि इतने पचड़ों में पड़कर जापान जाने की ऐसी मजबूरी क्या है? क्या इसी को ज़िंदगी बनाना कहते हैं? पर... काका तो बहुत अकलमंद है न... पिछली बार ही पाँच लाख बचाकर लाया था, इम्पोर्टेड चीज़ें अलग। भला सफल आदमी भी कभी ग़लत हुआ है! किसकी मजाल जो सफलता को उसकी कमियाँ बता सके? फिर पम्मी ही भला कैसे अपने हरदीप को समझा सकती थी!

उल्टा हरदीप ने ही उसे समझा दिया था। हरदीप के समझाने का नतीजा भी महीने भर में सामने आ गया था। शर्म से लजाकर पम्मी ने बताया था कि उसका जी खट्टा खाने को करने लगा है। दार जी तो बच्चों की तरह भंगड़ा पाने लगे थे। बीजी ने बलैयाँ ली थीं, बहू को काला टीका लगाया... उसकी नज़र उतारी... गुरुद्वारे ले जाकर माथा टिकवाया... घर में अखंड पाठ रखवाया। अबकी बार बीजी ने भी पुत्तर को समझाने की कोशिश की थी, 'पुत्तरा, कुड़ी दा पैर भारी है। मेरी गल मन, ऐस वार नां जा...पहला बच्चा है, तूं साथ होएंगा, तां कुड़ी चंगा महसूस करेगी।'

'बीजी, कोई निक्की बच्ची थोड़े ही है पम्मी! फिर आप हो, दार जी हैं ने, दो छोटे वीर ने, कोई इकल्ली थोड़ी है।'

'पुत्तरा असी सारे बेगाने! उसका अपणा तो बस, तू ही है।'

कितना सच कहा था बीजी ने! आज हरदीप की मौत के बाद सब बेगानों का-सा व्यवहार ही तो कर रहे हैं। हरदीप तो बेटे का मुँह देखे बिना ही चलाना कर गया।
'पम्मी, इंसान अपने भविष्य के लिए क्या कुछ नहीं करता! दिल छोटा नहीं करदे पगली!'
'पता नहीं क्यों जी, मेरा तो दिल ही नहीं मानता कि आप जापान जाओ। मेरी तो बस यही तमन्ना है कि जब अपना बच्चा पैदा हो, तो सबसे पहले आप ही उसका चेहरा देखें।'
चेहरे कैसे दूर चले जाते हैं। गायब हो जाते हैं। पम्मी की माँ जचगी के लिए अपनी बेटी को अपने घर ले गई थी। आजकल घर में कहाँ बच्चे पैदा किए जाते हैं? दाइयाँ तो केवल कहानियों में रह गई हैं... या फिर पिछड़े हुए गाँवों में। शहरों में तो बच्चे नर्सिंग होम में ही पैदा होते हैं। मायके वाले तो बस पैसे खरचते हैं, परेशानी उठाते हैं ताकि होने वाला बच्चा उनके जमाई के नाम को आगे बढ़ा सके। पम्मी का पुत्र अपने पिता की अनुपस्थिति में ही इस दुनिया में आ गया था।

और हरदीप अपने पुत्र को देखे बिना ही इस दुनिया से चला गया था। अपनी रणनीति के अनुसार हरदीप बैंकॉक होते हुए टोकियो पहुँच गया था। अपने पुराने साथियों के साथ ही जाकर रहने का ठिकाना भी कर ही लिया था। एक ही कमरे में दस-बारह अवैध रूप से घुसे लड़के वहाँ रहते थे। कुछ एक की पत्नियाँ पीछे हिंदुस्तान में प्रतीक्षा कर रही थीं। कुछ एक जापान में ही विवाह करने की जुगाड़ बना रहे थे। जापानी कन्या से विवाह करने पर वो जापान में रहना वैध हो जाता।
फ़रीदाबाद का वैध नागरिक, खाते-पीते घर का 'काका', जापान में अवैध काम करके को अभिशप्त था। वहाँ वो कुली भी बन जाता था तो कभी रेस्टॉरेंट में बर्तन भी माँज लेता था... हर वो काम जो हरदीप अपने देश में किसी भी कीमत पर नहीं करता, जापान में सहर्ष कर लेता था। कारण? झूठी शान के अतिरिक्त, और क्या हो सकता है... कि लड़का जापान में काम करता है।

काम करता है! ...दार जी सब समझते हैं, कि काका क्या काम करता है। घर में एक वहीं तो हैं जो पम्मी की बात से सहमत हैं कि हरदीप को जापान नहीं जाना चाहिए। पर काके को बीजी की पूरी शह है। बीजी का मन तो इम्पोर्टेड सामान के साथ बँधा रहता है। फिर न जाने उन्हें इम्पोर्टेड बहू के ख़याल से क्यों डर लगता था।
डर तो पम्मी को भी था कि कहीं कोई जापानी गुड़िया उसके हरदीप को अपने जाल में न फँसा ले। हरदीप को सख्त हिदायत थी कि हर सप्ताह वह पम्मी को फ़ोन करेगा। हरदीप भी अपना वादा हर सप्ताह निभाता था।
फिर एक सप्ताह हरदीप का फ़ोन नहीं आया। पम्मी का माथा ठनका। बीजी ने झिड़क दिया, 'ना! जे एक हफ्ता फ़ोन नहीं आया तां हो की गया...मुंडा कहीं बिजी हो गया होगा। आजकल की लड़कियाँ तो अपने खसम को गुलाम बनाकर ही रखना चाहती हैं।'
पम्मी ने भी एक गुलाम की तरह चुप्पी साध ली थी। अपनी भावनाओं को दिल में ही दबा दिया था।
परंतु विदेश में बैठे हरदीप का बुख़ार उसके शरीर में दबकर रहने को तैयार नहीं था। भेद खुल जाने के डर से डॉक्टर से दवा लेने में भी नहीं जा सकते थे। दोस्त लोग मिलकर ही दवा करवा रहे थे। शरीर कमज़ोर पड़ गया था। दो कदम चलते ही चक्कर आने लगते थे। अवैध कर्मचारी को तो रोज़ के पैसे रोज़ काम करने पर ही मिलते हैं। काम नहीं तो दाम नहीं। मन ही मन हरदीप को यह चिंता भी खाए जा रही थी। बस इसीलिए कमज़ोरी की हालत में भी काम पर निकल पड़ा था।
पम्मी को हर दिन काटने को दौड़ रहा था। वह अपनी माँ से मिलने तक नहीं जा पा रही थी। अगर पीछे से हरदीप का फ़ोन आ गया तो? माँ का फ़ोन तो कई बार आ चुका था और पिता जी भी दो बार लेने आ चुके हैं। आखिरकर, पम्मी ने सेक्टर पंद्रह से अटठारह के बीच की सड़क लाँघने का मन बना ही लिया।

सड़क पार करते हुए हरदीप को ज़ोर का चक्कर आ गया। तेज़ रफ्तार से आती कार के ड्राइवर ने पूरे ज़ोर से ब्रेक लगाई थी। परंतु हरदीप के जीवन का दीप गिज़ा की व्यस्त सड़क के बीचों बीच बुझा पड़ा था।

हरदीप के साथियों में शोर मच गया। हड़कंप की-सी स्थिति थी। अवैध लाश! लावारिस! उसे लेने कौन जाए? हरदीप के दसों दोस्त भी तो अवैध थे - लावारिस ज़िंदा लाशें। जो भी लाश लेने जाएगा, वही धर लिया जाएगा। पर सतनाम के पास तो वैध वीज़ा था। वो तो हरदीप की दोस्ती के कारण सबके साथ रहता था। फिर गुज़ारा भी सस्ते में हो जाता था। सतनाम ने जाकर लाश को पहचाना। पर अब लाश का करें क्या?
ज़िंदा इंसान का हवाई जहाज़ का किराया कम लगता है, परंतु लाश को जापान से भारत भेजना बहुत महँगा सौदा बन जाता है। किसी प्रोफेशनल से लाश पर लेप चढ़वाना, ताबूत का इंतज़ाम, सरकारी लाल फीताशाही, और हवाई जहाज़ का किराया! सतनाम ने सभी दोस्तों से बातचीत की, सभी बड़े दिल वाले थे। पंजाबी ख़ून ने ज़ोर मारा और दो दिन में ही तीन लाख भारतीय रुपये के बराबर पैसा इकट्ठा हो गया। सभी दोस्तों ने अपने यार को श्रद्धांजलि के रूप में यह पैसा एकत्रित किया था।
सतनाम भारतीय दूतावास जाने की सोच रहा था। एक नया अफ़सर है, नवजोत सिंह। सुना है ख़ासा मददगार इंसान है। दोस्तों ने टोका, 'यार, यह एम्बेसी के चक्कर में न पड़ो। हिंदुस्तानी एम्बेसी वाले तो बनता काम बिगाड़ने के लिए मशहूर हैं।'
'याद नहीं पिछली बार अवतार सिंह के साथ क्या किया था।' सतनाम परेशान हो उठा, 'भाई, एक बार चलकर तो देख लें।'

सभी सतनाम की बात मान गए। आखिर इन सभी 'इल-लीगलों' में एक वही तो 'लीगल' था। गैर कानूनी ढंग से दूसरे देश में जाकर सिंह भी कैसे चूहे हो जाते हैं।
नवजोत सिंह भारतीय दूतावास में पिछले साल भर से है। पिछली बार पंजाब के एक लड़के ने आत्महत्या की थी, तब भी उसी के सिर सारा काम आन पड़ा था। उस लड़के का मृत शरीर, अभी तक नवजोत को झुरझुरी दिला जाता है।
सतनाम सिंह की बात नवजोत पूरे ध्यान से सुनता रहा। उसने सतनाम की पीठ ठोंकी, 'तुम सबने तो अपनी दोस्ती निभा ली यारो। दो दिन में तीन लाख रुपये इकट्ठे कर लिए! अब मुझे कुछ सोचना है।'
सतनाम मुँह नीचा किए खड़ा रहा। नवजोत के माथे पर पड़ते बल इस बात की घोषणा कर रहे थे कि वह गहरी सोच में डूबा हुआ है।
'एक बात बताओ सतनाम सिंह तुम कह रहे थे कि हरदीप सिंह की बीवी और एक बच्चा भी है।' नवजोत ने ठंडी साँस लेकर पूछा।
'है जी!'
'तुमसे एक बात कहूँ, तो बुरा तो नहीं मानोगे?'
'कहो न साबजी! इस परदेस में आप ही तो हमारे माई-बाप हैं।'
'सतनाम, अगर यह सारा पैसा इस लाश को हिंदुस्तान भेजने में खर्च हो गया, तो हरदीप की बीवी को क्या मिलेगा...बस एक लाश! उस पर वो अभागन क्रिया-कर्म का खर्चा करेगी, सो अलग।'
'आप कहना क्या चाहते हैं बाऊ जी?'

'अगर हम इस लाश का क्रिया-कर्म यहीं जापान में कर दें, तो इसकी अस्थियाँ तो मुफ्त में भारत भेजी जा कती हैं डिप्लोमैटिक मेल में भेज देंगे। ये पैसा उसके काम आ आएगा।'

सतनाम किंकर्तव्यविमूढ़ होकर रह गया था। उसे समझ ही नहीं आ रहा था, कि उसकी प्रतिक्रया क्या हो। उसे नवजोत सिंह बहुत ही घटिया आदमी लगा, क्योंकि भावनाओं की कद्र उस इंसान में बिल्कुल भी नहीं थी। उसे नवजोत सिंह बहुत अच्छा इंसान लगा। क्योंकि वह जीवित व्यक्ति के बारे में सोच रहा है सिर्फ़ लाश के बारे में नहीं। 'बाऊ जी, आप जो ठीक समझें, वहीं करो जी।'

सतनाम ने वापस आकर सारे मित्रों को नवजोत सिंह के मन की बात बताई। सभी की आँखों में नवजोत का चरित्र पेंडुलम की तरह नायक और खलनायक के बीच झूल रहा था। बुत बने बैठे थे सब। किसी भी निर्णय पर पहुँच पाना आसान था क्या? एक राय पर सभी मित्र एकमत थे कि फरीदाबाद में हरदीप की बेवा से बात की जाए। जो वह ठीक समझे वही किया जाए।

फ़ोन की घंटी बजी। दोपहर का समय था। दार जी ने फ़ोन उठाया। जापान से फ़ोन था। दार जी की आवाज़ स्वयमेव ही ऊंची हो गई, 'हां जी! मैं उसका फ़ादर बोल रहा हूँ जी। उसकी वाईफ़ घर में नहीं है। जी! व्हाट!'

'हलो, मिस्टर सिंह! आप हमारी आवाज़ सुन रहे हैं?'

दार जी की गीली भर्राई हुई आवाज़ निकली, 'क्यों जी? काके का फ़ोन था, क्या बोला?'

'अब वोह कभी नहीं बोलेगा, भागवाने!'

'शुभ-शुभ बोलो जी! वाहेगुरु मेहर करे!'

'हरदीप दी बीबी, काका सानूं छड के चला गया। जापान वाले काके दा क्रिया-कर्म वहीं करके उसके पैसे पम्मी के नाम भेज रहे हैं।'

तूफ़ान का झोंका एक भूचाल की तरह आया। बीजी फटी हुई आँखों से अपने पति को देख रही थीं, जिसने ऑल इंडिया रेडियो की तरह अपने पुत्र की मौत का समाचार सुना दिया था। बीजी का स्यापा घर की दीवारों की सीमा पर करके पड़ोसियों के घरों तक पहुँचने लगा था। वह बदहवास हुए जा रही थीं। हरदीप के दोनों भाई भौंचक्के खड़े थे।

'पुत्तर नूं तां खा गई, हुण ओसदे पैसे बी खा जाएगी।'

'अकल दी बात कर, कुलवंत! ओस बेचारी को तो अभी तक यह भी नहीं पता कि वो विधवा हो चुकी है।' दार जी को दुःख और गुस्से दोनों पर काबू पाना भारी पड़ रहा था।

'दार जी, भरजाई को बुलाने से पहले एक बात हम आपस में तय कर लें।'

'हमें क्या तय करना है पुत्तर जी?'

'दारजी या तो वीर जी की लाश लेने हम दोनों भाइयों में से कोई जाएगा...या फिर...!'

'बोलो पुत्तर, चुप क्यों हो गए?'

'या फिर जापान वालों से कहिए कि पैसे बीजी के नाम से भेजें।'

'पुत्तर जी, अगर तुम लाश लेने जाओगे तो क्या ख़ास बात हो जाएगी?' दार जी का गुस्सा बाहर आने को बेताब हो रहा था।
'दार जी, हम वहाँ वीर जी की जगह टोकियो में रहने का चक्कर चला सकते हैं।' कुलदीप ढिठाई से बोला।
'ओये, हरदीप की मौत से भी तुमने कोई सबक नहीं लिया?'
'चलो जी हम एक मिनट के लिए मान भी जाएँ कि काके दा क्रिया-कर्म जापान में हो जाए, तो सारे पैसे कल दी आई कुड़ी को क्यों मिलें। पुत्तर तो हमारा गया है!' बीजी ने कुलदीप के सुर में आवाज़ मिलाई।

दार जी सिर पकड़कर बैठ गए। उन्हें विश्वास ही नहीं हो रहा था कि इस औरत के साथ उन्होंने इतना लंबा जीवन बिता डाला, 'ओ, जिसका खसम गया है, पहले उसे तो बताओ कि वोह बेवा हो चुकी है।'
'पर दार जी, पम्मी भाभी के आने से पहले हम घरवालों को कोई फैसला तो कर लेना चाहिए। दोबारा जापान से फ़ोन आ गया तो क्या जवाब देंगे?' यह गुरप्रीत था, सबसे छोटा।
दार जी अपने परिवार को देखकर हैरान थे, क्षुब्ध थे... अपने ही पुत्र या भाई के कफ़न के पैसों की चाह इस परिवार को कहाँ तक गिराएगी, उन्हें समझ नहीं आ रहा था। मन किया सब कुछ छोड़-छाड़कर संन्यास ले लें। पर अगर वे नहीं होंगे तो पम्मी का क्या होगा? यह गिद्ध तो सामूहिक भोज करने में ज़रा भी नहीं, हिचकिचाएँगे। 'पुत्तर जी आप अपणे भाई और माँ के साथ फ़ैसले करो, मैं ज़रा जाकर अपनी बहू को उसकी बरबादी की खबर दे आऊँ।'

पंद्रह सेक्टर पर गिरी बिजली को दार जी अट्ठारह सेक्टर अपने साथ ले गए। सरदार वरयाम सिंह और सुरजीत कौर के तो पैरों के नीचे से मानों ज़मीन ही निकल कई। पम्मी तो चीख मारकर बेहोश ही हो गई। बस चार-पाँच महीने ही तो बिताए थे अपने पति के साथ।
'वरयाम सिंह जी, आप जी दी क्या राय है? जापान वालों को क्या जवाब दिया जाए?'
'सरदार साहब, आप बड़े हैं, अक्लमंद हैं, दुनिया देखी है आपने। आप जो फैसला करेंगे, वोह तो ठीक ही होगा।' सरदार वरयाम सिंह के हाथ जुड़े हुए थे।
'देख भाई वरयाम सिंह, यह फैसला मैं अकेला नहीं कर सकता। मेरी हालत से तो तू अच्छी तरह वाकिफ़ है। अभी तक न जाने कैसे सब कुछ सहे जा रहा हूंफ'
'सरदार साहिब, आप जो भी फैसला करें, ज़रा पम्मी के भविष्य का ज़रूर ख़याल करें।'
'भविष्य की बात तो बाद में सोचेंगे। अभी तो पम्मी को मेरे साथ रवाना करें। घर मे सौ अफ़सोस करने वाले आएँगे।' दारजी उठ खड़े हुए।
वरयाम सिंह और सुरजीत कौर पम्मी और उसके पुत्र को लिये पंद्रह सेक्टर की ओर चल दिए। भीम बाग और जैन मंदिर पम्मी की सूजी आँखें देखकर भी चुप थे। निरपेक्ष खड़े थे।

बीजी ने सबको देखा तो उनका स्यापा और ऊँचा हो गया। दार जी ने पम्मी को अलग से बुलाया और उससे एक बार फिर वही सवाल किया। पम्मी के पास सिवाय रोने के और कोई जवाब नहीं था। दार जी के दिमाग़ में वरयाम सिंह की आवाज़ गूँज रही थी, 'ज़रा पम्मी के भविष्य का ख़याल ज़रूर करें।'
जापान से फ़ोन आया। दार जी ने फ़ोन उठाया। पम्मी की ओर देखा। पम्मी की रोती हुई आँखों में लाचारी साफ़ दिखाई दे रही थी। बीजी, कुलदीप और गुरप्रीत की आँखें और

कान दार जी की ओर ही लगे हुए थे।
'हाँ जी, नवजोत सिंह जी, आप... ड्राफ़्ट परमजीत कौर के नाम से ही बनवाइएगा।...और...और अस्थियाँ थोड़ी इज़्ज़त से किसी कलश में भिजवा दीजिएगा।' दार जी के आँसुओं ने उनकी आँखों से विद्रोह कर दिया। और वे निढाल होकर ज़मीन पर ही बैठ गए।
पूरा घर तनाव से भर गया। बीजी ने पूरा घर सिर पर उठा लिया, 'ऐस कमीनी नूं तां पैसा मेरे पुत्तर तो ज़्यादा प्यारा हो गया। अपने पुत्तर दे आखरी दर्शन वी नहीं कर सकांगी। खसमां नूं खाणिये तेरा कख ना रहे।'

दार जी ने पम्मी के सिर पर हाथ फेरकर उसे कमरे में जाने को कहा। पम्मी एक लुटे-पिटे मुसाफ़िर की तरह किसी तरह अपने कमरे तक पहुँच गई।
रात को बीजी ने एक और चाल चली, 'सुणो जी, मैं एक बात कहूँ, बुरा तो नहीं मानोगे।'
'बोलो', दार जी की दर्द भरी आवाज़ उभरी।
'अगर कुलदीप पम्मी पर चादर डाल दे, तो कैसा रहे? घर की इज़्ज़त भी घर में रह जाएगी और...'
अस्थियाँ और बैंक ड्राफ़्ट आ पहुँचे हैं। बाहर बीजी का प्रलाप जारी है, दार जी दुखी हैं। और अंदर कमरे में पम्मी अपनी सूजी आँखों से कलश को देख रही है। उसने तीन लाख रुपये का ड्राफ़्ट उठाया। उसे समझ नहीं आ रहा था कि यह उसके पति की देह की कीमत है या उसके साथ बिताए पाँच महीनों की कीमत।
उसका पुत्र अभी भी जुकाम से बंद नाक से साँस लिए जा रहा है।

(28 जनवरी 2008 को अभिव्यक्ति में प्रकाशित)

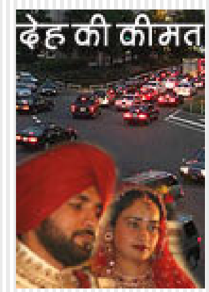

पासपोर्ट के रंग

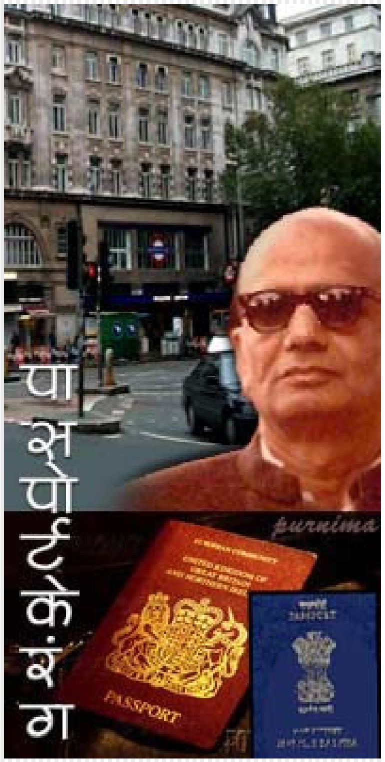

"मैं भगवान को हाज़िर नाज़िर जान कर कसम खाता हूँ कि ब्रिटेन की महारानी के प्रति निष्ठा रखूँगा।" अंग्रेज़ी में बोले गए ये शब्द एवं इनके बाद के सभी वाक्य पंडित गोपाल दास त्रिखा को जैसे किसी गहरे कुएँ में से आते प्रतीत हो रहे थे। वे हैरो के सिविक सेंटर में बीस पच्चीस गोरे, काले, भूरे रंग के अलग-अलग देश के और पीले रंग के चीनी लोगों के साथ ब्रिटेन की महारानी के प्रति वफ़ादारी की कसमें खा कर ब्रिटेन की नागरिकता ग्रहण कर रहे थे। अपने आपको धिक्कार भी रहे थे।

"पापा, आप भी कमाल करते हैं। अब भला इस वक्त आप पार्टीशन की बात ले कर बैठ जाएँगे तो लाइफ़ आगे कैसे बढ़ेगी? किया होगा अंग्रेज़ों ने जुल्म कभी हमारे देशवासियों पर। लेकिन इसका मतलब यह तो नहीं कि हम जीवन को रोक कर बस, उसी पल को बार-बार जिए जाएँ।"

"बेटा तू नहीं समझ सकता। मेरे लिए ब्रिटेन की नागरिकता लेने से मर जाना कहीं बेहतर है। मैंने अपनी सारी जवानी इन गोरे साहबों से लड़ने में बिता दी। जेलों में रहा। मुझे तो फाँसी की सज़ा तक हो गई थी। लेकिन. . ."

"अब आप दोबारा अपनी रामायण लेकर शुरू मत हो जाइएगा।"

"बेटा तू मुझे वापस भारत भेज दे। मैं किसी तरह अपनी ज़िंदगी बिता लूँगा वहाँ। तुझसे कभी किसी चीज़ की शिकायत नहीं करूँगा। मुझे ऐसी मौत मत मार। मैं हिंदुस्तानी पैदा हुआ था और हिंदुस्तानी ही मरना चाहता हूँ। मैं ऊपर जा कर तेरे दादाजी और देश पर मर मिटने वाले अपने साथियों को क्या मुँह दिखाऊँगा बेटा?" तेरी माँ को ये सब पता चलेगा तो उसे कितना ख़राब लगेगा?"

"बाउजी, किस दुनिया की बात कर रहे हैं। आपको यहाँ, इस देश में हमारे साथ रहना है। देखिए बाउजी, ब्रिटिश पासपोर्ट के लिए लोग दो-दो लाख रुपए देते हैं रिश्वत में, तब कहीं जाकर हासिल कर पाते हैं। आपको मुफ़्त में मिल रहा है तो आप इसकी कदर ही नहीं करते। ब्रिटिश पासपोर्ट हो तो आपको किसी भी देश का वीज़ा लेने की ज़रूरत नहीं पड़ती। जब दिल किया, जहाँ जाना हो, बस, हवाई जहाज़ की टिकट लीजिए और घूम आइए वहाँ।"

"लेकिन बेटा जी, मुझे हिंदुस्तान के लिए, अपनी जन्मभूमि के लिए तो वीज़ा लेना पड़ेगा न। क्या इससे बड़ी कोई लानत हो सकती है मेरे लिए? बेटा, एक बात बताओ, क्या कोई ऐसा तरीक़ा नहीं हो सकता कि मैं हिंदुस्तान का नागरिक भी बना रहूँ और मुझे तुम अपनी खुशी के लिए ब्रिटेन की नागरिकता भी ले दो?"

सरोज ने भी इंद्रेश को बहुत समझाने का प्रयास किया था कि जब बाउजी को पसंद नहीं तो क्यों उनकी नागरिकता बदलवाई जाए। लेकिन इंद्रेश ने किसी की नहीं सुनी। ब्रिटेन की रानी के प्रति वफ़ादारी की कसम खाने के बाद गोपाल दास जी ने तीन दिन तक कुछ नहीं खाया, पेट में जैसे कसम का अफ़ारा उठ रहा था।

गोपालदास जी कभी अपने नए पासपोर्ट को देखते, तो कभी अपनी बाईं बाजू को। उनकी बाईं बाजू में एक गोली लग गई थी, उनकी हड्डी के साथ स्टील की रॉड लगा दी गई थी। इसलिए उनकी बाईं भुजा दाईं भुजा से कुछ इंच छोटी थी। और यह गोली उन्हें एक अंग्रेज़ सिपाही ने मारी थी, लाहौर में।

लाहौर से दिल्ली आना उनकी मजबूरी थी। अपनी जन्मभूमि को उस समय छोड़ना उन्हें बहुत परेशान कर रहा था। किंतु कोई चारा नहीं था। वहाँ किसी पर विश्वास नहीं बचा था। दोस्त दोस्त को मार रहे थे। हर आदमी या तो हिंदू बन गया था या फिर मुसलमान। रिश्ते जैसे ख़त्म ही हो गए थे। सभी इंसान धार्मिक हो गए थे और जानवर की तरह बरताव कर रहे थे।

मजबूरी तो इंग्लैंड आना भी थी। लेकिन यह मजबूरी बिछड़ने की नहीं, मिलने की थी, साथ रहने की थी। पत्नी की मृत्यु के बाद का अकेलापन, किसी अपने के साथ रहने की चाह और इकलौता पुत्र। यही सब गोपालदास जी को लंदन ले आया था। बेटी विवाह के बाद अमरीका में है और बेटा इंग्लैंड - बेचारे गोपालदास जी अकेले फरीदाबाद में अपनी बड़ी-सी कोठी में कमरे गिनते रहते। अधिकतर रिश्तेदार दिल्ली में। अब तो फरीदाबाद से दिल्ली जाने में भी शरीर नाराज़गी ज़ाहिर करने लगता था। ऐसे में ज़ाहिर-सी बात है कि इंद्रेश ने अपने पिता की एक नहीं सुनी और उन्हें लंदन ले आया था।

आज यही लंदन गोपालदास जी को जैसे और अधिक पराया लगने लगा था। आजकल वो विधि और अगस्त्य से भी कम बात करते थे। अगस्त्य छोटा है, बार-बार अपने दादा जी से चिपटता रहता है। विधि महसूस करती थी कि दादा जी परेशान हैं। अपनी मीठी-सी अंग्रेज़ी में पूछ लेती थी, "दादा जी, आप हर वक्त क्या सोचते रहते हैं?" दादा जी क्या जवाब दें। अपनी छोटी-सी नन्हीं परी को क्या और कैसे बताएँ अपने दिल का दर्द। बस स्टार न्यूज़ और ज़ी टीवी उनके साथी बन गए थे। बार-बार वही ख़बरें सुनते रहते। भारत के बारे में भारतवासियों से अधिक गोपाल दास जी को ख़बर रहती थी।

"मुझे सच बाउजी पर बहुत तरस आता है। सेम-सेम ख़बरें सुन कर बोर भी नहीं होते।" सरोज इंद्रेश को बता देती थी। बस यही बार-बार सुनने वाली उबाऊ ख़बरों में से ही एक दिन गोपालदास जी को एक ख़ास ख़बर सुनाई दे गई थी जिसने उनके जीवन को पूरी तरह से बदल कर रख दिया था। स्टार न्यूज़ ने समाचार दिया कि प्रवासी दिवस के दौरान प्रधानमंत्री ने ऐलान कर दिया है कि पाँच देशों के भारतीय मूल के लोगों को दोहरी नागरिकता दी जाएगी।
"सरोज बेटा, तुमने सुना। आज तो प्रधानमंत्री ने ऐलान कर दिया है कि हम दोहरी नागरिकता रख सकते हैं। उन्होंने साफ़-साफ़ कहा ही कि पाँच देशों के एन.आर.आई. बकायदा डयूल नेशनेलिटी रख सकते हैं। और उन पाँच देशों में इंग्लैंड भी शामिल है। बेटा तू जल्दी से इंद्रेश को फ़ोन मिला। उसको कह कि आफ़िस से निकलते हुए हाइ कमीशन से एक एप्लीकेशन फॉर्म लेता आवे। हम कल ही अप्लाई कर देंगे। अब मैं वापस इंडियन हो सकता हूँ।" बाउजी बस बोले जा रहे थे। सरोज एकटक उन्हें देखे जा रही थी। विधि और अगस्त्य भी मोटी-मोटी आँखों में अपने दादा जी को देखे जा रहे थे।

सरोज बाउजी के साथ लिविंग रूम तक चली गई। बाउजी के शरीर का रक्त प्रवाह तेज़ होता जा रहा था, "तू खुद ही सुन लै पुत्तर। अभी मेन न्यूज़ दोबारा आएगी।" जब तक मुख्य समाचार में सरोज ने सुन नहीं लिया कि बाउजी ने ठीक सुना है, तब तक वह बाउजी के चेहरे पर बदलते भाव पढ़ती रही। उसे इंद्रेश पर गुस्सा भी आ रहा था कि

उसने बाउजी को फ़िज़ूल की मुसीबत में डाल दिया है। अगर बाउजी को वीज़ा लेने जाना होता था तो अपने आप ही जा कर ले आते थे। इसी बहाने अपने आप को बिज़ी भी रखते थे।

इंद्रेश शाम को घर आया।
"पुत्तर तू फ़ारम लै आया?" बाउजी की आँखों में उम्मीद की नदी-सी बह रही थी।
"बाउजी, जब तक मेरा आफ़िस बंद होता है तब तक हाइ कमीशन के काउंटर बंद हो जाते हैं। मैं आज ही त्रिलोक शर्मा को फ़ोन करता हूँ। वो वहाँ के वीज़ा सेक्शन में है। उसे सही सिचुएशन मालूम होगी।"
बातचीत, टी.वी., टेलिफ़ोन या भोजन गोपालदास जी का मन किसी भी चीज़ में नहीं लग रहा था। बस एक ही इच्छा हो रही थी कि इंद्रेश किसी भी तरह त्रिलोक शर्मा से बात कर ले। उनकी आँखों में बस एक ही चाह थी - दोहरी नागरिकता। बैठे-बैठे सपना देख रहे थे।

इंद्रेश टेलिफ़ोन पर बात कर रहा था और भावों का सूचकांक बाउजी के चेहरे पर दिखाई दे रहा था।
"बाउजी, त्रिलोक कह रहा है कि अभी तो सिर्फ़ प्रधानमंत्री ने घोषणा की है, बस। अभी यह बिल बना कर पार्लियामेंट में पेश होगा, पास होगा, फिर उस पर राष्ट्रपति के दस्तख़त होंगे, फिर एक्ट बनेगा तब जा के लागू होगा फिर उसके फ़ार्म वगैरह बनेंगे तब कहीं जा कर आम आदमी तक पहुँचेगी दोहरी नागरिकता। फिलहाल तो यह बस प्रवासियों को खुश करने भर का ड्रामा लगता है।"
"यार ये कोई कांग्रेसी प्रधानमंत्री नहीं है। यह करेक्टर वाला बंदा है। आर.एस.एस. का आदमी है। झूठ नहीं बोल सकदा। त्रिलोके को कह किसी तरह दिल्ली से पता लगवाए।"
"बाउजी, पॉलीटीशन सभी एक से होते हैं। आज़ादी के बाद सभी का एक ही उद्देश्य बचा है। बस लूट लो जितना लूट सको। किसी को भी जनता की परवाह नहीं।"

गोपालदास जी को इस समय राजनीतिज्ञों के चरित्र पर बहस करने में कोई रुचि नहीं थी। रात भर परेशान रहे। बस बिस्तर पर करवटें बदलते रहे। सुबह उठे, दिनचर्या से निवृत्त हुए, नाश्ता किया, तैयार हुए और निकल पड़े। बेकरलू लाइन ले कर सीधे ऑक्सफर्ड सर्कस, वहीं से सेंट्रल लाइन ले कर होबर्न अंडरग्राउंड स्टेशन पहुँचे। होबर्न को वे हमेशा होलबोर्न ही कहते हैं। उसके स्पैलिंग ही ऐसे हैं। अंग्रेज़ी के साइलेंट लेटर हमेशा ही उनको परेशान करते हैं। होबर्न से बाहर निकल कर बाएँ को मुड़े और आहिस्ता-आहिस्ता चल दिए भारतीय उच्चायोग भवन की ओर। उनके लिए घर बैठे रह पाना संभव नहीं था। वे स्वयं पता करना चाहते थे कि प्रधानमंत्री ने क्या कहा है।

सामने बी.बी.सी. का बुश हाउस दिखाई दिया। आल्डविच इलाके में बस यही दो भवन हैं जिनसे गोपालदास जी को दिली लगाव है। एक तो बी.बी.सी. का बुश हाउस और दूसरा भारत भवन। बी.बी.सी. देख कर गोपालदास जी को वो सभी महान समाचार वाचक याद आ जाते थे जिनकी आवाज़ सुनने के लिए वे अपने रेडियो पर शार्ट वेव पर बी.बी.सी. सेट करते परेशान होते रहते थे। कभी भी बहुत साफ़ नहीं आता था लेकिन बात साफ़ करता था। ठीक उसी ही तरह गोपालदास जी भी बात साफ़ और खरी करते हैं चाहे सामने वाले को पसंद आए या न आए।

भारत भवन के बाहर हमेशा की तरह भीड़ लगी हुई थी। बाहर की खिड़की वाले से नमस्कार करते हुए एक टोकन ले कर हाल के अंदर जा पहुँचे। पहले दिल किया कि त्रिलोक शर्मा को फ़ोन कर लेते। फिर ख़याल आया कि इंद्रेश नाराज़ हो जाएगा। बस सीधे पूछताछ वाले काउंटर पर जा पहुँचे। और उससे सीधे-सीधे दोहरी नागरिकता का फ़ार्म माँग लिया। सामने एक युवा-सी लड़की बैठी थी। बात अंग्रेज़ी में करती थी या फिर अंग्रेज़ीनुमा हिंदी में। "सॉरी, हमारे पास ऐसा कोई फ़ार्म नहीं है। कहीं आप पी.आई.ओ. फ़ार्म की बात तो नहीं कर रहे?"
"जी नहीं, कल ही प्रधानमंत्री ने प्रवासी दिवस समारोह में ऐलान कीता है कि अब इंग्लैंड के हिंदुस्तानी दोनों देशों की नागरिकता रख सकते हैं। मैं उसकी बात कर रहा हूँ।

वह लड़की गड़बड़ा गई, 'एक्सक्यूज़ मी' कह कर अपने अफ़सर को बुलाने चली गई। उसका अफ़सर भारतीय था। सरदार दिलीप सिंह, "देखिए त्रिखा साहब, पालिटिकल स्टेटमेंट और सरकारी कार्यवाही में बहुत फ़र्क होता है। दिल्ली में प्रधानमंत्री ने एक पॉलिसी स्टेटमेंट दी है, बस। अब उस पर काम शुरू होते-होते कोई छः सात महीने तो लग ही जाएँगे। हमारे स्टाफ़ तक तो अभी यह ख़बर भी नहीं पहुँची कि प्रधानमंत्री ने ऐसी कोई स्टेटमेंट भी दी है।" दिलीप सिंह ने भी वही बात दोहरा दी जो त्रिलोक शर्मा ने कही थी।

निराश से गोपालदास जी भारी कदमों से बाहर आ गए। भारत भवन से होबर्न तक का जो रास्ता आते समय पाँच-सात मिनट में तय हो गया था वही अब बीस मिनट से अधिक ले चुका था। होबर्न स्टेशन अचानक इतनी दूर कहाँ चला गया?

गोपालदास जी वापस हैरो एँड वील्डस्टोन स्टेशन से सीधे घर न जा कर लायब्रेरी की तरफ़ चल दिए। वहाँ मधोक साहब और बधवार जी मिल गए। "भाई लोगों, आपने डयूएल नेशनेलिटी वाली ख़बर पढ़ी है क्या?"
ख़बर दोनों ने पढ़ ली थी। मधोक साहब का अपना ही अंदाज़ था, "त्रिखा जी, मैंने तो अभी तीन महीने पहले ही पाँच साल के वीज़े पर सौ पाउंड खरचे हैं। मुझे तो कोई जल्दी पड़ी नहीं है दोहरी नागरिकता की। जब लागू होगी तब देखा जाएगा। अभी से क्यों दिमाग़ ख़राब करूँ। फिर अपना अभी वहाँ कोई प्रापर्टी वगैरह ख़रीदने का भी कोई प्रोग्राम है नहीं।"

बधवार साहब त्रिखा जी की मानसिकता से परिचित थे, "मैं समझता हूँ त्रिखा जी कि आपके लिए दोहरी नागरिकता के अर्थ कुछ और ही हैं। लेकिन आप तो जानते ही हैं कि अपनी भारतीय सरकार हर काम में कितना टाइम लेती है। पचास साल में हिंदी को भारत की राजभाषा नहीं बना पाई। कहीं यह दोहरी नागरिकता वाला मामला भी पचास साला योजना न हो।"
"मेरे हिसाब से तो यह बस प्रवासियों को खुश करने की एक भोंडी कोशिश से ज़्यादा कुछ भी नहीं है।" यह दवे साहब थे। जो पास ही बैठे तीनों की बातें सुन रहे थे।

दुखी मन लिए गोपालदास जी घर वापस आ गए। सोच थी कि पीछा नहीं छोड़ रही थी। एक, दो, तीन, चार, आठ महीने बीत चुके थे लेकिन दोहरी नागरिकता अभी तक देहरी लाँघ कर त्रिखा जी के घर नहीं पहुँच पाई थी। बीतते-बीतते क़रीब एक वर्ष ही बीत गया। दूसरा प्रवासी दिवस भी आ पहुँचा। पुत्र से बात करके भारत जाने का कार्यक्रम जनवरी महीने का ही बनवा लिया। सोचते थे कि जब प्रवासी दिवस मनाया जा रहा होगा उसी समय शायद कुछ नई बात निकल आए और उनकी बात बन जाए।

गोपालदास जी पहली बार भारत के लिए वीज़ा लेने जा रहे थे। बहुत शर्म आ रही थी। सुबह नाश्ते के समय इंद्रेश की ओर देखा, "पुत्तर जी, क्या तुम त्रिलोक को कह कर मेरे लिए वीज़ा नहीं लगवा सकते। भारत के लिए विज़ा अप्लाई करने में बहुत अजीब-सा लग रहा है।"
इंद्रेश ने सरोज को कह दिया कि इंटरनेट से आज फार्म डाउनलोड करके बाउजी से भरवा ले।
" पुत्तर वीज़ा सिर्फ़ सिंगल ऐंट्री ही अप्लाई करना है। दूसरे ट्रिप तक तो दोहरी नागरिकता लागू हो ही जाएगी।"
इंद्रेश मुस्करा भर दिया, "बाउजी आप भी बस।"

भारत में बाउजी ने सोचा कि प्रवासी दिवस में शामिल हो आएँ। लेकिन उनका मन नहीं मान रहा था कि दो सौ डॉलर की फ़ीस दे कर अपने देश में प्रवासी दिवस में शामिल हों। फिर वे रिपोर्ट पढ़ते रहे कि सारा का सारा प्रवासी दिवस अंग्रेज़ी में मनाया जा रहा है। हिंदी बेचारी वहीं खड़ी है जहाँ बधवार जी बता रहे थे।

प्रधानमंत्री ने दूरदर्शन पर एलान किया कि दोहरी नागरिकता अब सोलह देशों के भारतीयों को दी जा सकेगी। बाउजी सोच रहे थे कि जब सोलह देशों की बात की जा रही है तो जिनके लिए पहले वर्ष में घोषणा की जा चुकी है, उनको तो अवश्य ही इस वर्ष मिल जाएगी। उन्होंने प्रधानमंत्री से मिलने के बहुत प्रयास किए। लेकिन जनता के प्रतिनिधियों को रू-ब-रू मिल पाना क्या इतना आसान होता है।

गोपालदास जी विदेश मंत्रालय के दफ़्तर के भी चक्कर लगाते रहे। श्रीवास्तव जी और स्वरूप सिंह से मुलाक़ात की। मुस्कुराहटें तो मिलीं, दोहरी नागरिकता बस दूर खड़ी थी दूर ही रही। और गोपालदास जी वापस अपने देश आ गए। अपने देश यानी लंदन। अब वो इसी देश के नागरिक थे।
वे वापस आए और भारत में सरकार बदल गई। वही कांग्रेस वापस जिससे गोपालदास जी को शिकायत रहती थी। एक तो यह मीडिया भी गोपालदास जी को आराम से नहीं जीने देता। कभी भी कुछ भी छापता रहता है। इंटरनेट से सरोज ही एक ख़बर निकाल कर लाई थी कि कांग्रेस सरकार ने एक प्रवासी मंत्रालय बना दिया है। गोपालदास जी को विश्वास हो चला था कि जब सरकार ने मंत्रालय तक बना डाला है तो दोहरी नागरिकता ज़्यादा दूर नहीं हो सकती। उनका उत्साह दोगुना बढ़ गया था। लेकिन उनके मित्र अब उनसे दूर ही भागते थे।

"लो वो बोर फिर आ गया। अब सारा टाइम दोहरी नागरिकता की भेंट चढ़ जाएगा।"
"यार इस आदमी को और कोई काम है या नहीं, बस सारा वक्त यही सोचता रहता है। पागल हो जाएगा कुछ दिनों में।"
"ये हो जाएगा क्या होता है जी। हो चुका है। इस तरह की बातें पागल ही कर सकते हैं।"

बस एक बधवार जी थे जो गोपालदास जी की मनोदशा को समझ पा रहे थे। वही उनसे बात भी करते थे और अपनी राय भी देते रहते थे, "गोपालदास जी, आज अख़बार में ख़बर आई है कि प्रवासी मंत्री ने आस्ट्रेलिया में दोहरी नागरिकता देने के फ़ार्म अपने हाथों से बाँट कर दोहरी नागरिकता की शुरुआत कर दी है। यह देखिए, अख़बार आपके सामने हैं।"

गोपालदास जी ने अख़बार देखा, समाचार देखा और अख़बार वहीं रख दिया। और घर की ओर चल पड़े। उनके साथी हैरान कि इतनी बड़ी ख़बर और गोपालदास जी बिना कोई टिप्पणी किए चल दिए।

गोपालदास जी पहले सीधे भारतीय कार्नर शॉप की तरफ़ गए। वहाँ जा कर अख़बार ख़रीदा और उछलते मन को उस अख़बार का सहारा देते हुए घर की ओर चल दिए। अपने कमरे में जा कर पूरा समाचार ठीक से पढ़ा। उम्मीद जागी कि अब अशोक के शेर वाला मेरा नीला पासपोर्ट एक बार फिर से जीवित हो उठेगा। केवल पासपोर्ट का रंग नीले से लाल होने पर इंसान के भीतर कितनी जद्दोजहद शुरू हो जाती है। आज उन्होंने घर में किसी से बात नहीं की। रात भर करवटें बदलते रहे। सुबह होने का इंतज़ार, बस यही कर सकते थे, करते रहे। सुबह का नाश्ता करने के बाद एक बार फिर भारतीय उच्चायोग के दरवाज़े पर खड़े थे।

अंदर का दृश्य ठीक वैसा ही था जैसा कि पिछली बार। अबकी बार उन्होंने फ़ार्म माँगने की जगह अपना अख़बार काउंटर क्लर्क के सामने रख दिया। काउंटर पर बैठी महिला परेशान-सी हो उठी। पिछली मुलाक़ात उसे याद आ गई। लेकिन आज गोपालदास जी का गुस्सा बहुत उग्र होता जा रहा था, "आप समझती क्या हैं अपने आपको। यहाँ आपका ही मंत्री आस्ट्रेलिया में जा कर फ़ार्म बाँट रहा है, उसकी फ़ोटो तक छपी है और आप कहती हैं कि आपके पास अबतक फ़ार्म नहीं आए हैं। बुलाइए अपने अफ़सर को, कराइए मेरी बात। यह भला कोई तरीक़ा हुआ कि दो साल तक प्रधानमंत्री कहते रहे कि दोहरी नागरिकता दी जाएगी। अब प्रवासी मंत्री फ़ार्म बाँटता साफ़ दिखाई दे रहा है और आप कहती हैं कि आपने दिल्ली से क्लैरिफ़िकेशन माँगा है। आप लोग काम करना ही नहीं चाहते। ज़रूर आप लोग कोई नया अलाउंस माँग रहे होंगे। यह ब्यूरोक्रेसी की वजह से कभी कोई काम हो ही नहीं सकता। हमारी दोहरी नागरिकता के रास्ते के सबसे बड़े रोड़े आप लोग ही हैं।"

झगड़े की आवाज़ सुन कर त्रिलोक शर्मा भी बाहर आ गए। गोपालदास जी को देख कर वे हैरान भी हुए। काउंटरों के ज़रिए ही बाहर चले आए और गोपालदास जी को सुरक्षा कर्मियों के धकियाने से बचा लिया। समझाते हुए घर जाने को कहा, "आप चिंता न करें बाउजी, मैं खुद ही इंद्रेश से बात कर लूँगा।"
गोपालदास जी हाइ कमीशन की इमारत से बाहर आ गए। अपने आप को बहुत पराया-सा महसूस कर रहे थे। उनके कदम उन्हें बिना बताए ही वाटरलू पुल की तरफ़ ले गए। नीचे टेम्स का पानी अपनी रफ़्तार से बहता जा रहा था। हाइ टाइड थी इसलिए पानी भी काफ़ी था। सूर्य सिर पर चमक रहा था और हवा तेज़ चल रही थी। गोपालदास जी की आँखों में से पानी बहने लगा। वे तय नहीं कर पा रहे थे कि यह पानी नमकीन है बस पानी है। मन में एक पल के लिए आया कि इस पुल से नीचे छलांग लगा कर इस टंटे को ख़तम ही कर दें।

वाटरलू स्टेशन से ही बेकरलू ट्यूब ले ली। घर पहुँचे। सरोज को देख कर सकपका गए। कहीं त्रिलोक ने फ़ोन न कर दिया हो। सरोज ने बिना कुछ पूछे चाय बना कर आगे रख दी। बिस्किट के साथ चाय पी। अपने कमरे में चले गए। इंद्रेश शाम को घर लौटा, "सरोज, बाउजी की तबीयत शायद ज़्यादा बिगड़ती जा रही है। आज हाइ कमीशन में जा कर नाटक कर आए हैं। त्रिलोक का फ़ोन आया था मुझे।"
"क्यों, ऐसा क्या कर आए?" सरोज परेशान हो उठी, "देखिए आज कुछ कहिएगा मत। हाइ कमीशन से बहुत परेशान लौटे हैं। मुझे तो पता नहीं था कि वहाँ गए थे। लेकिन चेहरा देख कर मुझे लगा कि बहुत निराश दिखाई दे रहे हैं। आप कल समझा दीजिएगा। डिनर टेबल पर कुछ मत कहिएगा।"

विधि बाउजी को बुलाने गई तो कमरे में अँधेरा था। टेलिविजन पर स्टार न्यूज़ चल रही थी। उसने आवाज़ दी लेकिन उसकी पतली-सी आवाज़ टी.वी. की आवाज़ में दब गई। उसने बत्ती जलाई। देखा कि बाउजी एकटक छत को देखे जा रहे थे।

वह घबरा कर बाहर आ गई और ममी पापा को बताया। इंद्रेश और सरोज दोनों एक साथ कमरे में आए। बाउजी को आवाज़ दी। गोपालदास जी एकटक छत को देखे जा रहे थे। उनके दाएँ हाथ में लाल रंग की ब्रिटिश पासपोर्ट था और बाएँ हाथ में नीले रंग का भारतीय पासपोर्ट। उन्होंने ऐसे देश की नागरिकता ले ली थी जहाँ के लिए इन पासपोर्टों की ज़रूरत नहीं थी।

स्टार न्यूज पर नए प्रधानमंत्री घोषणा कर रहे थे कि अब विदेश में बसे सभी भारतीयों को दोहरी नागरिकता प्रदान की जाएगी।

(1 जनवरी 2006 को अभिव्यक्ति में प्रकाशित)

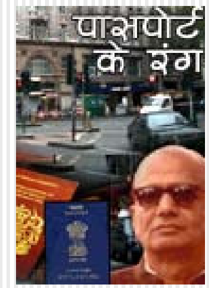

मलबे की मालकिन

समीर ने यह क्या कह दिया!

एक ज़लज़ला, एक तूफ़ान मेरे दिलो दिमाग़ को लस्त-पस्त कर गया है। मेरे पूरे जीवन की तपस्या जैसे एक क्षण में भंग हो गई है। एक सूखे पत्ते की तरह धराशाई होकर बिखर गई हूँ मैं। क्या समीर मेरे जीवन के लिए इतना महत्वपूर्ण हो गया है कि उसके एक वाक्य ने मेरे पूरे जीवन को खंडित कर दिया है? फिर मेरा जीवन सिर्फ़ मेरा तो नहीं है। नीलिमा, मेरे जीवन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। नीलिमा को अलग करके, मैं अपने जीवन के बारे में सोच भी कैसे सकती हूँ? नीलिमा का जन्म ही तो मेरे वर्तमान का सबसे अहम कारण है। उससे पहले तो मैं अत्याचार सहने की आदी-सी हो गई थी। नीलिमा ने ही तो मुझे एक नई शक्ति दी थी। मुझे अहसास करवाया था कि मैं भी एक जीती जागती औरत हूँ, कोई राह में पड़ा पत्थर नहीं कि इधर से उधर ठोकरें खाती फिरूँ।

एक भाई की चार चिंताएँ और उनमें मैं माता-पिता की चौथी चिंता थी। मुझसे पहले की तीन चिंताओं से मुक्त होते-होते पिता की कमर टेढ़ी हो चुकी थी। मैं थी कि पढ़ना चाहती थी। चिंता दर चिंता! लड़की यदि अधिक पढ़-लिख गई, तो लड़का कहाँ से मिलेगा! अपनी बिरादरी में तो ज़्यादा पढ़े-लिखे लड़के ढूँढे से नहीं मिलते।
कहते हैं ढूँढने से तो भगवान भी मिल जाते हैं। परन्तु भगवान के बनाए हुए इंसान! इंसान न भी मिले तो क्या फ़र्क पड़ता है?

जो भी मिले उसी के पल्ले बाँध दो। माँ-बाप को तो गंगा नहानी है, लाख समझाती रही, मिन्नतें करती रही पर नहीं! पढ़-लिख कर ख़राब होने से कहीं अच्छा है अपना घर बसाओ, पति का ध्यान रखो और बच्चों को पालो। कुछ यों सा महसूस होने लगा था, जैसे मैं कोई इंसान नहीं हूँ, केवल एक मादा शरीर हूँ, जिसे किसी भी नर शरीर के खूँटे पर बाँध देना है।

बँधना नहीं चाहती थी, ऐसा भी नहीं था, रजत को देखकर मेरे मन में कुछ-कुछ होता था। मन चाहता था उसे खिड़की से देखती रहूँ। हम दोनों के घर लगभग आमने-सामने थे। उसकी खिड़कियों का रंग बाहर से नीला था। उसी खिड़की में नीली कमीज़ पहने खड़ा रजत, मुझे आकर्षित करने के लिए ज़ोर से चिटकनी बन्द करता था। मैं अपनी खिड़की में खड़े होकर कभी बाल बनाने लगाती तो कभी कुछ गुनगुनाने लगती। हम खिड़कियों के फ़्रेम में जडे फ़ोटो ही बने रह गए। खिड़कियों से कभी बाहर ही नहीं निकल पाए।

रजत को मेरा खुले बालों में कंघी फिराना बहुत अच्छा लगता था। वैसे, अभी हमारी उम्र ही क्या थी। मैं तो दसवीं में पढ़ रही थी।।। बचपना! पर बचपन का प्यार क्या कभी भुला पाता है कोई? मैं माता-पिता को रजत के बारे में कभी कुछ बता नहीं पाई थी। रजत ने एक दिन कहा भी था कि उसके कालेज की पढ़ाई के बाद, नौकरी लगते ही हम

शादी कर लेंगे। रजत, मुझे प्यार तो करता था, किन्तु मेरी पढ़ाई से उसे भी कोई सरोकार नहीं था। उसने भी कभी अपने मुँह से यह नहीं कहा था कि मेरी पढ़ाई विवाह के बाद भी पूरी हो सकती है। उस समय तो मुझे रजत की यह अदा भी बुरी नहीं लगती थी। उसके लिए तो मैं अपना सर्वस्व, अपना जीवन, होम करने को तैयार थी।

जीवन तो अंततः होम हो ही गया था। माता-पिता के हठ के सामने मेरी एक भी नहीं चल पाई थी। अपने दूर के किसी रिश्तेदार के पुत्र के साथ बाँध दिया था मुझे पिताजी ने। अभी तो सत्रह की ही थी कि अमिता से श्रीमती यादव हो गई थी। अभी श्रीमती बनने का शहर भी तो नहीं सीखा था। रजत की चाँदनी बनना और बात थी। परन्तु रामखिलावन यादव के परिवार के तो नियमों तक से वाक़िफ़ नहीं थी मैं।

वाक़िफ़ होने में क्या समय लगना था। पहली ही रात को पति के वहशियाना बर्ताव ने सब कुछ समझा दिया था कि अमिता यादव बने रहने के लिए, जीवन भर क्या-क्या सहना पड़ेगा। जैसे एक भेड़िया टूट पड़ा था अपने शिकार पर। निरीह मेमने की तरह बेबस-सी पड़ी थी मैं। पीड़ा की एक तेज़ लहर टाँगों को चीरती हुई निकल गई थी। शराब और तंबाकू की महक, उबकाई को दावत दे रही थी। दर्द ने चीख़ को बाहर निकलने को मजबूर कर ही दिया। चीख़ की परवाह किसे थी। चादर लहू से लथपथ हो रही थी। चेहरे पर विजयी मुस्कान लिए वोह! जो मेरा रखवाला था, स्वयं ही मुझे ज़ख़्मी और आहत छोड़कर आराम की नींद सो रहा था।

आराम! इस शब्द से अब मेरा संबंध सदा के लिए टूट चुका था। रामखिलावन यादव के परिवार ने एक दरिद्र परिवार की पुत्री को अपने घर की बहु बनाया था। बहु के लिए आवश्यक था कि वह घर में ग़रीब बैल की तरह जुटी रहती। ग़रीब पिता के घर भी गरीब थी, और अमीर ससुराल में भी गरीब। नौकरों के घर में होते हुए भी ऐसा क्यों होता था कि मैं स्वयं अपने आपको उन्हीं नौकरों में से एक पाती थी। मैं क्यों अपने आपको उस घर का सदस्य नहीं बना पा रही थी। कुछ यों सा भी तो लगने लगा था जैसे मैं किसी दूसरे ग्रह से भटककर इस ग्रह में पहुँच गई हूँ। इस भटकाव का खामियाजा भुगत रही थी।

भटकाव! मेरे पति के जीवन में ऐसा भटकाव क्यों था? इस सवाल का जवाब ढूँढ पाना आसान काम नहीं था। मैं रूप सुन्दरी चाहे ना रही होऊँ, परन्तु मुझे एक बार देखकर लड़के दोबारा मुड़कर अवश्य देखते थे। बहुत से लड़के मुझसे दोस्ती करने को उत्सुक रहते थे। वो सब केवल उम्र का तकाज़ा था या मैं उन्हें सचमुच अच्छी लगती थी। दर्पण तो आज भी मेरे रूप की गवाही देने से नहीं चूकता। फिर मेरे पति को मुझमें क्या कमी दिखाई देती थी? क्यों वह मुझे छोड़कर किसी भी ऐरी-गैरी के पीछे भागता रहता था। सास को भी इसमें कोई बुराई नहीं दिखाई देती थी। उसे लगता था कि उसका लाडला है ही इतना सुन्दर कि उसे देखकर किसी भी लड़की का उस पर मर मिटना स्वाभाविक ही है।

स्वाभाविक तो था मेरा उस घर से ऊब जाना। माता-पिता से निराशा, ससुराल से निराशा, पति से निराशा। इतनी सारी निराशा के बावजूद मैं ज़िंदा थी। सोती थी, जागती थी, मुसकुरा भी लेती थी, रोती थी। रोती तो थी ही रोने के अतिरिक्त और कर भी क्या सकती थी। और अब तो रोने के साथ सुबह की उल्टियाँ भी शामिल हो गई थीं।
घर की हर चीज़ उलटी थी। उसके साथ उल्टियाँ तो होनी ही थीं। मैं माँ बनने वाली थी। माँ! माँ तो मेरी भी बहुत अच्छी है। पर मुझे अपनी माँ जैसी माँ नहीं बनना था। ढेर से बच्चे पैदा करो और जीवन भर उनकी परवरिश में खटते रहो। कैसा जीवन है यह? कभी सोचा करती थी, बस! मुझे एक ही बच्चा चाहिए। बेटा हो या बेटी? इसके बारे में कभी सोचा ही नहीं था। भला मैं अपने बच्चे के लिंग के बारे में क्यों सोचती? क्यों चिंता करती? जिनको करनी है, करें।

चिंता करने वालों की कमी थी क्या? भला मेरे सोचने या ना सोचने से क्या फ़र्क पड़ने वाला था। बाकी सभी को चिंता खाए जा रही थी कि बेटा होगा या बेटी। लड़का होगा तो क्या नाम रखेंगे। उसके ननिहाल से क्या आएगा। कैसा समारोह मनाया जाएगा। ढोल-ताशों का प्रबंध कैसा रहेगा। मुहल्ले भर में मिठाइयाँ बँटेंगी। जाने क्या-क्या किया जाएगा।

कुछ नहीं हुआ। कुछ नहीं करना पड़ा। सब उल्टा-पुल्टा हो गया। घर में लक्ष्मी ने अवतार लिया था। लक्ष्मी के पुजारी, यादव परिवार वाले लक्ष्मी के आगमन पर भौचक रह गए थे। उन्हें यह समझ नहीं आ रहा था, कि यह सब कैसे हो गया। मेरी सास के आँसू वर्षा ऋतु के बरसाती नालों को मात देने में व्यस्त थे। मेरा अपना पति तो पुत्री-जन्म के दो दिन बाद घर लौटा। उसे रेज़गारी कभी पसंद नहीं आती थी। बड़े-बड़े नोटों से ही उसे लगाव रहता था। लक्ष्मी जी की चिल्लर भला उसे कहाँ भाने वाली थी। ससुर जी की तो नाक ही कट कई थी।

अब मेरी सहनशक्ति भी जवाब देने लगी थी। किसी हत्यारे को भी संभवतः ऐसा दंड कभी ना दिया गया होगा जो दंड मुझे नीलिमा को इस संसार में लाने के जुर्म में दिया जा रहा था। शरीर की नस-नस में ज़हर भरा जा रहा था।
"हरामज़ादी! लौंडी पैदा करके बहुत तीर मारी हो का? का समझती हो अपने आप को! हमरा सामने मुँह चलाती है! ससुरी के सभेई दाँत तोडे डाले हैं ना! तभे ही मारी बात समझेगी - पतुरिया!"
इतनी बेइज़्ज़ती! ऐसा निरादर! सांस लेने के लिए भी मार खानी पड़ेगी? समय आ गया था निर्णय लेने का। परन्तु मैं कौन होती थी निर्णय लेने वाली। मैं तो यादव खानदान की मात्र बहू थी। निर्णय लेना मेरे अधिकार क्षेत्र के बाहर की चीज़ थी। निर्णायकों ने निर्णय ले ही लिया था। मैं।। मैं अब रामखिलावन यादव के परिवार के लिए आवश्यक वस्तु नहीं रह गई थी। कह दिया गया, बहुत आसानी से कह दिया गया, "इस परिवार को तुम्हारी कोई ज़रूरत नहीं। अपनी मनहूस सूरत और उससे भी अधिक मनहूस बेटी को उठाओ और यहाँ से दफ़ा हो जाओ।"
दफ़ा तो हो जाती। पर जाती कहाँ? माता-पिता तो सुनते ही बेहोश हो जाते। बसा बसाया घर त्यागकर उनकी बेटी वापस आ गई। भाई और बहनों की भी हमदर्दी तो थी परन्तु सभी की मजबूरियाँ थीं। भाई की धर्मपत्नी थी तो बहनें किसी ना किसी की धर्म-पत्नियाँ थीं। हम लोग कितने धार्मिक हो जाते हैं। धर्म के रिश्ते, खून के रिश्तों के मुकाबले कहीं अधिक वज़नदार हो जाते हैं।

ऐसे में अपने एक पुराने अध्यापक की याद आई थी। अपना बनने के लिए, अपना ना होना कितना आवश्यक होता है। जो अपने होते हैं, वो कितनी आसानी से अपने नहीं रहते। और जो अपने नहीं होते, बिना किसी स्वार्थ के किसी को अपना लेते हैं। ऐसे ही हैं अपने पुरी सर! बिना किसी मतलब के अपना संरक्षण भरा हाथ मेरे सिर पर रख दिया था। उनके संरक्षण का सीधा-सा अर्थ था मेरी पढ़ाई का पुनर्जीवित होना। आज भी उनका मार्गदर्शन मेरे जीवन के लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि घर से निकाले जाने के बाद, पहले दिन था।

तब से जीवन का हर दिन ही पहला दिन लगने लगा है। क्या कुछ नहीं बीत गया इतने वर्षों में। समुद्र की गहराई की थाह पा सकना यदि कठिन है, तो जीवन की गहराई की थाह पा सकना तो लगभग असम्भव है। उसी जीवन की गहराई खोजने में ही सारी ज़िन्दगी ख़र्च होती जा रही है। अब मुझे आदमी की जात से नफ़रत होने लगी थी। हर

आदमी में मुझे केवल नर शरीर ही दिखाई देता था, जो कि किसी भी मादा पर झपटने को तैयार हो। यदि कोई नर शरीर मुझे बस या गाड़ी में छू भी जाता तो एक जुगुप्सा की सी भावना होती थी। पूरे जीवन का बस एक ही केंद्रबिंदु बनकर रह गया था-नीलिमा। नीलिमा को क्या अच्छा लगता है, नीलिमा कैसे नहाती है, कैसे खाती है, कैसे तुतलाती है। नीलिमा का वजूद मेरे ज़िंदा रहने का एकमात्र कारण था। डरती थी कहीं सूर्य की गरम किरण भी उसके शरीर को छू ना जाए।

गरमी, सर्दी, वर्षा, वसंत, पतझड़-सभी तो नीलिमा के शरीर को छूते गए। नीलिमा की उम्र देखकर याद आया कि मुझे भी अखबार के दफ्तर में काम करते पंद्रह वर्ष से ऊपर हो गए। अपने नाम के साथ यादव लिखना तो मुझे कभी भी अच्छा नहीं लगा था। अब तो जैसे अपना नाम ही भूल गई हूँ। एक बार प्रियदर्शिनी के नाम से लिखना शुरू किया तो बस कॉलम दर कॉलम यही नाम मेरे साथ जुड़ता चला गया। नीलिमा का नाम भी स्कूल में नीलिमा प्रियदर्शिनी ही हो गया था।
प्रियदर्शिनी के साथ भी कई लोगों ने जुडने का प्रयास किया था। शायद किसी ना किसी का प्यार सच्चा भी रहा हो। किन्तु मेरे पास फुरसत ही कहाँ थी, किसी की भावनाओं को समझने की। हर आदमी को देखकर यादव ही याद आता था। और ऐसा होते ही लगता था कि मेरे साथ-साथ मेरे माहौल की हवा का भी दम घुटने लगा हो।

माहौल से लड़ पाना कौन-सी आसान बात है। अख़बार की दुनिया में अपने आप को खपा पाना तो और भी मुश्किल काम था। यहाँ हर आदमी अपने आप को फ़न्ने खाँ समझता है। गलती से भी किसी के मुँह से दूसरे की तारीफ़ नही निकलती। तारीफ़ के मामले में कंजूसी, जेब में हाथ डालने में कंजूसी। हर बंदा दूसरे का गला काटने को तत्पर। सुबह-शाम ख़ामियाँ ढूँढने का चक्कर! शाम की दारू का जुगाड़। यह था मेरा माहौल - जहाँ मुझे अपने आप को ज़िंदा रखना था।
ज़िंदा रहना! जिजीविषा! कितनी अर्थपूर्ण स्थिति! ज़िन्दा तो माँ-बाप के घर में भी थी, ज़िंदा तो यादव के घर में भी थी। फिर ज़िंदा तो यादव के घर से निकाले जाने के बाद भी थी। ज़िंदा तो आज भी हूँ। पर क्या यह सारी स्थितियाँ एक जैसी हैं? क्या इन सब स्थितियों को एक ही शब्द 'ज़िंदा' वर्णित कर सकता है? क्या घुटे दम सांस लेने को भी ज़िंदा रहना कहेंगे। क्या इंसान को केवल इसलिए ज़िंदा मान लिया जाए क्योंकि उसके दिल की धड़कन अभी तक चल रही है?

नीलिमा साँस लेती थी तो मेरे दिल की धड़कन सुनाई देती थी। बिंदियों वाला लाल फ्रॉक पहने, बालों की पोनी टेल बनाए, सफ़ेद जूते पहने जब नीलिमा दौड़ती हुई मेरी बाहों में आकर लिपट जाती थी, तो जैसे मैं सारी कायनात को अपनी बाँहों में समेट लेती थी। जब पहली बार उसने मुझे 'मम्मा' कहा था तो इस शब्द के अर्थ ही मेरे लिए बदल गए थे। आकाश में उड़ते बादल जैसे वर्षा की फुहारों के रूप में इसी शब्द को बार-बार धरती की ओर प्रेषित कर रहे थे।

वर्षा का भाई सौरभ भी तो मुझे अपने मन की भाषा प्रेषित करने की असफल कोशिश करता रहा। वैसे तो उसकी भावनाएँ मुझे समझ आ गई थीं। संभवतः मेरी भावनाएँ अपनी निद्रा से जाग भी जातीं। पर वर्षा ने उन भावनाओं को अपने गुस्से की बाढ़ में बहा दिया। वह कहने को तो 'मेरी सहेली' थी किंतु यह बरदाश्त नहीं कर पा रही थी कि उसका अपना भाई किसी परित्यक्ता से संबंध जोड़े। हमारी मित्रता रिश्तों के बोझ तले दब गई थी।
बोझ तले तो जीने की सारी आकांक्षाएँ, अरमान, दबे हुए थे। नीलिमा, इस बीच, उस बोझ से बेखबर, बड़ी हुई जा रही थी। मेरी चिंता में बढ़ोत्तरी होती जा रही थी। नीलिमा है भी तो सरू की तरह लंबी। सुन्दर भी कितनी है, मरी! एक बार जो उसे देखता है, तो नज़रें ही नहीं हटती। पाँच बच्चों का ग्रहण लगने से पहले मेरी माँ भी ऐसी ही सुंदर दिखती थी।

माँ! यह शब्द मेरे मुँह से निकले तो एक अरसा ही बीत गया है। पर नीलिमा के मुँह से यह शब्द सुनकर जैसे मरुस्थल से मेरे दिल में ठंडी हवा का एक झोंका-सा महसूस होता है। अब तो कालेज जाने लगी है। आत्मविश्वास तो कूट-कूट कर भरा है उसमें। उसकी उम्र में जब मैं थी तो उसे गोद में लिए घर से निकाली भी जा चुकी थी। हैरानी की बात यह है कि मैं भी नीलिमा को घर से निकालने के बारे में सोचने लगी थी। सोचती थी कि उसे विदा कर दूँ, उसके हाथ पीले कर दूँ। फिर एकाएक मन में डर-सा बैठने लगा था। नीलिमा को पढ़ाई करनी होगी। मेरी तरह उसकी किस्मत किसी यादव के घर से नहीं बँधेगी। उसे किसी अंकल पुरी की सरपरस्ती का मोहताज नहीं होना पड़ेगा। नीलिमा की पढ़ाई में कम से कम मैं स्वयं तो रोड़े नहीं ही अटकाऊँगी। नीलिमा को अपने पैरों पर खड़ा होना होगा। जब इतना जीवन बीत ही गया है, तो आज अचानक नीलिमा के विवाह के बारे में सोचना क्या उचित होगा?

उचित-अनुचित की परवाह किए बिना ही किस्मत हमारी ही बिल्डिंग में समीर को ले आई थी। समीर ने हाल ही में डॉक्टरी की थी। अमरावती से पढ़ाई पूरी करके आया था। पास ही के हस्पताल में 'हाऊस-जॉब' कर रहा था। उससे मुलाकात भी अनायास ही हो गई थी। लिफ़्ट रुक गई थी। काफ़ी शोर-सा सुनाई दिया था। बाहर आकर देखा तो लिफ़्ट अटकी पड़ी थी। मेरा तो जीवन ही किसी अटकी हुई लिफ़्ट के समान था। ऊर्जा का अभाव, दिशा विहीन, स्पंदनहीन।
फिर भी लिफ़्ट में से मैंने ही उसे बाहर निकाला था। यद्यपि लिफ़्ट में फँसने का मेरा अपना तो कोई अनुभव नहीं है, परन्तु एक छोटी-सी जगह में घुटन का आभास मैं अच्छी तरह महसूस कर सकती हूँ। इसीलिए मैंने वाचमैन से अच्छी तरह सीख लिया था, कि लिफ़्ट के फँस जाने पर निकलने का रास्ता कैसे बनाते हैं।
समीर के चेहरे की मासूमियत ने मुझे पहली नज़र में ही आकर्षित कर लिया था। उसके बात करने का ढंग, तहज़ीब किसी को भी प्रभावित करने में सक्षम थे। संभवतः लिफ़्ट में फँसा होने की शर्म से उबर नहीं पाया था, अभी। घबराहट और बौखलाहट से बना पसीना उसकी कमीज़ को गीला किए हुए था। माथे पर उभरी पसीने की बूँदें अपनी कहानी स्वयं ही सुना रही थीं।

कहानी तो हर व्यक्ति के जीवन का एक अभिन्न हिस्सा होती हैं। कहानियाँ बनती हैं टूटती हैं। ज़िन्दगी की टूटन, कहानियों की टूटन से कहीं अधिक दर्द पैदा कर जाती है। समीर के जीवन की भी एक कहानी थी। उसके सुखी बचपन की कहानी। पिता के पार्टनर के धोखे की कहानी? हवालात में बन्द पिता की कहानी! माता-पिता की आत्महत्या की कहानी! उसके अकेलेपन की कहानी! इस विकराल दुःख की कहानी के बावजूद डॉक्टर बनने के अपने सपने को साकार करने की कहानी।
सपने तो मेरे मन में भी जगा गया था समीर! एक बार फिर नीलिमा और समीर को लेकर सपनों के जाल बुनने लगी थी। समीर अब रात का खाना अक्सर हमारे साथ खाने लगा था। परिवार में अचानक एक मर्द के आ जाने से वातावरण अलग-सा होने लगा था। नीलिमा समीर से छोटी-छोटी बातों पर झगड़ने लगती थी। समीर का धीर गंभीर चेहरा, नीलिमा की हर बेहूदगी बरदाश्त कर जाता। अगर मैं नीलिमा को डाँटती तो नीलिमा की ही तरफ़दारी करता, "आप क्यों डाँटती हैं उसे। बच्ची है अभी।" मेरा सपना और इंद्रधनुषी हो जाता।

इंद्रधनुष के सातों रंगों में से अलग-अलग कोई भी मेरा प्रिय नहीं है। पर सातों रंग मिलकर जब सफ़ेद रंग बनता है तो मुझे अपना-सा लगने लगता है। 'सैल्फ प्रिंट' की सफ़ेद साड़ी लिए समीर, मेरे जन्म-दिन पर सुबह-सुबह आ पहुँचा था। बहुत मना करने पर भी मुझे यह उपहार लेना ही पड़ा। और उसी साड़ी को पहनकर हम शाम को चौपाटी की रेत पर खेलते रहे।

उस शाम मैंने नीलिमा की आँखों में एक विशेष चमक देखी थी। हालाँकि नीलिमा अपने चेहरे के भाव आसानी से व्यक्त नहीं होने देती। पर मैं तो उसकी माँ हूँ। जब वो रूई के फाहे की तरह मुलायम-सी गुड़िया थी, तब से उसे देख रही हूँ। उसकी आँखों का क्षणिक बदलाव भी भला मेरी नज़र से कैसे बच सकता है। उसका समीर की ओर देखना और पकड़े जाने पर शरमा कर नज़रें झुका लेना।

दूसरी ओर समीर का धीर-गंभीर चेहरा। सब ठीक है। मुझे ऐसा ही दामाद चाहिए, जो नीलिमा को पति के प्यार के साथ-साथ, पिता होने का अहसास भी करा दे। उन दोनों का समुद्र की लहरों से खेलना देखकर, मैं मन ही मन अंदाज़ लगा रही थी कि जीवन की लहरों से यह दोनों कैसे निबटेंगे।
पहले तो नीलिमा को पढ़ाई और नाटक के अतिरिक्त और कुछ नहीं भाता था। समीर आकर बैठा रहता था, मुझसे बातें करता रहता था और नीलिमा अपने आप में मस्त रहती थी। फिर धीरे-धीरे उसमें एक बदलाव आया। वो समीर में मगन दिखाई देने लगी थी। रंगमंच के नाटक से कहीं अधिक अनोखा मोड़ उसके अपने जीवन में आ रहा था। घर में पालक-पनीर अक्सर बनने लगा था। चाय की पत्ती की जगह 'टी-बैग' इस्तेमाल होने लगे थे, रात को कॉफ़ी बनने लगी थी, नए फ़िल्मी गीतों को जगजीत सिंह ने परे धकेल दिया था और नीलिमा स्कर्ट और मिडी की जगह सलवार कमीज़ पहनने लगी थी। उसे यह सब करने को मैंने तो नहीं कहा था।
नीलिमा की इन्हीं बातों ने मुझे इतनी हिम्मत दी कि मैं समीर से नीलिमा के बारे में बात कर सकूँ। केवल सही समय और सही मौके की तलाश थी। सचमुच के घर बनाने और रेत के घरौंदे बनाने में तो बहुत फ़र्क होता है। रेत के घरों को तेज़ हवाएँ उड़ा ले जाती हैं। समुद्र की तेज़ लहरें उसे बहा ले जाती हैं। मैं भी डर रही थी कहीं मेरे ख़याली पुलाव भी समुद्री फेन की तरह न साबित हों।

ख़्याल तो मुझे सीधे रजत के पास ले जाते थे। कहीं मन में यह भी विचार उठ रहे थे कि जो काम मैं और रजत पूरा नहीं कर पाए, वह काम नीलिमा और समीर शायद सरअंजाम दे पाएँ। डॉक्टर दामाद के बारे में सोचकर सुख से भीगी जा रही थी।
सुख के ऐसे ही एक क्षण में समीर से बात शुरू कर बैठी। बाहर हल्की-हल्की बयार चल रही थी जो खिड़की के पल्ले से टकराकर घर के अन्दर तक फैलती जा रही थी। सूरज की लालिमा शाम का साथ छोड़ती जा रही थी और रात को दावत दे रही थी। नीलिमा कहकर गई थी कि शाम को घर आने में देर हो जाएगी। ऐसे में समीर घर में दाख़िल हुआ। बड़े अधिकार से एक कप चाय की माँग की। मैं अपना कॉलम लिख रही थी। कॉलम छोड़कर किचन में जाना अच्छा लग रहा था।
चाय बनाकर समीर के सामने रख दी। उसने एक बिस्कुट स्वयं ही उठा लिया था। आराम से चाय में डुबा-डुबाकर खा रहा था अपना बिस्कुट। अपनी पुरानी आदत अपने सामने सजीव देख रही थी। हिम्मत जुटा ही ली, "समीर, विवाह के बारे में कुछ सोचा है?"
"आपके अलावा मेरा है ही कौन जो मेरे विवाह के बारे में सोचे।" समीर ने दूसरा बिस्कुट उठा लिया था।
मेरे दिल की धड़कन तेज़ हो गई थी। आखिर नीलिमा के भविष्य का फ़ैसला होने वाला था। "नहीं समीर, मेरा मतलब था, क्या तुम खुद शादी के बारे में मन पक्का कर रहे हो?"
"जी! सोच तो रहा हूँ।"
"अपनी होने वाली पत्नी के बारे में कुछ सोचा है तुमने? तुम्हें कैसी पत्नी की तलाश है?"
समीर कुछ क्षणों के लिए सोच में पड़ गया। और फिर बोला, "प्रियदर्शिनी जी, बस कोई अपने जैसी ढूँढ दीजिए। फट से कर लूँगा शादी।"

मैं हवा में तैरने लगी थी। नीलिमा से बढ़कर मेरे जैसी कौन हो सकती थी? जैसे समीर ने मुझे हरी झंडी दिखा दी थी। मेरे सपनों को साकार करने का इशारा दे दिया था।
"समीर, नीलिमा के बारे में तुम्हारी क्या राय है? उससे बढकर तो मेरे जैसा कोई नहीं होगा। क्या वह तुम्हारी पत्नी की तस्वीर में रंग भर सकती है?"
"जी आपने एकदम सही फ़रमाया कि मैं आजकल सीरियसली शादी के बारे में सोच रहा हूँ। पर नीलिमा! नीलिमा तो अभी बच्ची है। उससे शादी के बारे में कैसे सोचा जा सकता है? मैं... मैं उसे पसंद करता हूँ, प्यार करता हूँ, पर शादी के लिए नहीं। मैं उसका बड़ा भाई हो सकता हूँ, पिता हो सकता हूँ। आपको लगता है, इस दुनिया में नीलिमा सबसे ज़्यादा आप जैसी हो सकती है। मैं ऐसा नहीं मानता। आप जैसी सबसे अधिक आप ख़ुद हो सकती हैं। मैं इस घर में रोज़-रोज़ आता हूँ तो आपके लिए। नीलिमा के लिए नहीं। मुझे आपसे अच्छी पत्नी कहीं नहीं मिल सकती। मैं... मैं आपसे प्यार करता हूँ प्रियदर्शिनी!" समीर एक तूफ़ान की तरह मेरे कानों से टकराया। उसने अपना हाथ मेरे हाथ पर रख दिया था।

तूफ़ान ने सारे घर को हिलाकर रख दिया था। मुझे लगा घर की दीवारें ध्वस्त होकर नीचे गिर पड़ी हैं। समीर के शब्द दीवारों के पार खड़ी नीलिमा को आहत कर गए हैं। मैंने अपना हाथ हटा लिया। मैं! नीलिमा की माँ, प्रियदर्शिनी... स्वयं उस की सौत! समीर यह तुमने क्या कह दिया? मेरी वर्षों की तपस्या की चूलें हिला दीं। मैंने नज़रें उठाईं तो समीर जा चुका था। मैं टूटी हुई दीवारों का मलबा समेटने लगी।

(12 जनवरी 2006 को अभिव्यक्ति में प्रकाशित)